UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186302

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

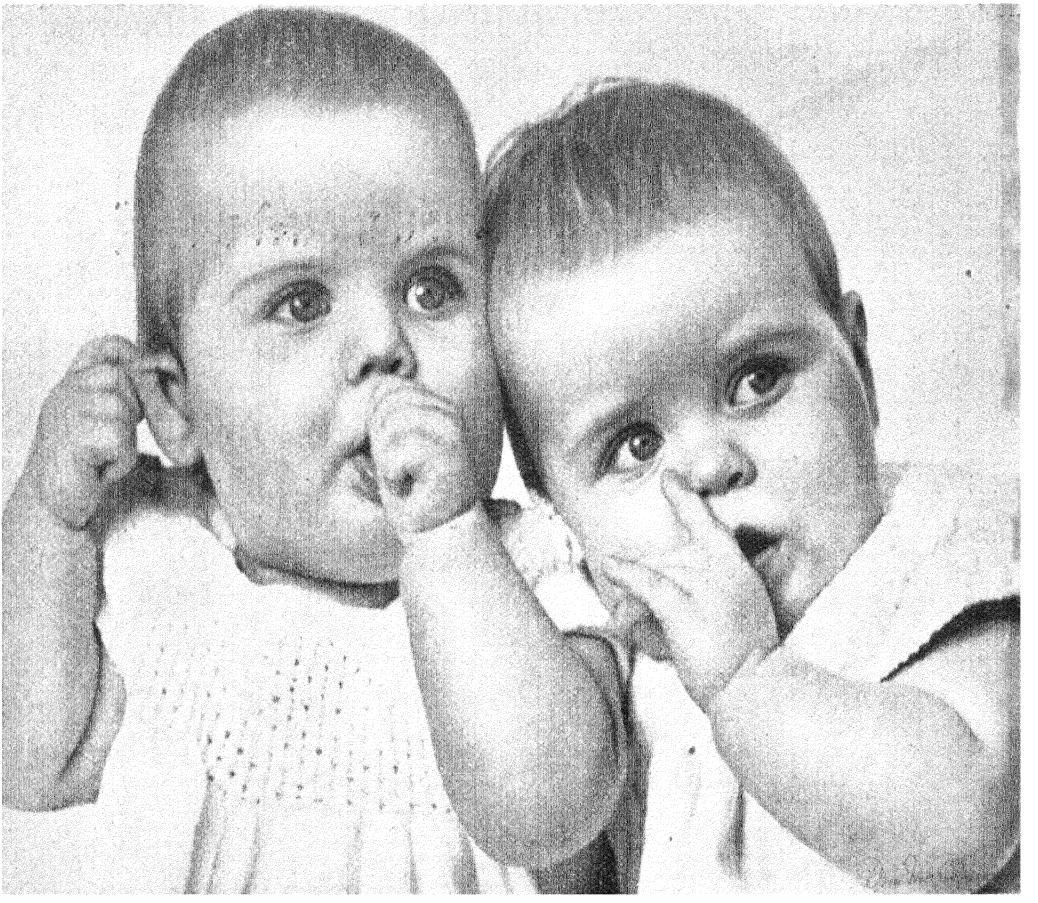
Call No. H372/S55B Accession No. G.H 2104

Author ओंकार, निर्मला

Title बाल विकास और उसकी समस्याएं

This book should be returned on or before the date last marked below.

बाल विकास तथा उसकी समस्याएँ



मिसेज ग्रिपमन के सौजन्य से

दो सुन्दर कलियां

बाल विकास

और

उसकी समस्याएँ

लेखिका

निर्मला शेरजंग, एम.ए., बी.टी., एल्-एल.बी.,

इन्द्रप्रस्थ कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय,

दिल्ली

प्रकाशक

जगत शंखधर, पो. बा. २२, बनारस–१

प्रकाशक
जगत शंखधर
पो. बा. २२, बनारस-१

Checked 1965

Checked 1959

प्रथम संस्करण, अप्रैल १९५६
मूल्य ५)

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस

आमुख

श्रीमती निर्मला शेरजंग की पुस्तक 'बालविकास तथा उसकी समस्याएं' की प्रस्तावना-स्वरूप यह कुछ शब्द लिखने में मुझे प्रसन्नता है। लेखिका दिल्ली विश्वविद्यालय और इन्द्रप्रस्थ कॉलिज में मनोविज्ञान की प्रसिद्ध अध्यापिका है। पर यह कोई बाल मनोविज्ञान की पाठ्यपुस्तक नहीं है, न यह इस विषय के विद्यार्थियों के उद्देश्य से मुख्यतः लिखी गयी है। मेरे विचार से तो लेखिका ने इस पुस्तक को मुख्यतः माता-पिता और छोटे बच्चों के अध्यापकों के लिये ही लिखा है, यद्यपि मनोविज्ञान के विद्यार्थी भी इससे लाभ उठा सकते है।

वर्षों से मैं इस प्रकार की पुस्तक की प्रतीक्षा में था। यूनाइटेड किंगडम और अमरीका के भ्रमण-काल में मैंने इस प्रकार की अनेक पुस्तकें देखी (जिनमें मैं पैम्फलेट को भी सम्मिलित करता हूं)। वहाँ बाल अध्ययन संघ, माता-पिताओं के राष्ट्रीय संघ, नर्सरी स्कूल संघ और अन्य संस्थाएं है जिन्होंने सर्वसाधारण के और मुख्य रूप से नन्हे बच्चों के माता-पिता और शिक्षकों के लाभ के लिये बालविकास के क्षेत्र में अनुसंधानों के प्रचार का काम अपने ऊपर ले लिया है। एक बार इन प्रकाशनों में रुचि हो जाने पर बाल मनोविज्ञान के विषय में वे मनोवैज्ञानिकों और अनुसंधानकर्ताओं के अन्य गहन ग्रन्थों का भी अध्ययन कर सकते है।

हमारे देश में दोनों तरह की पुस्तकों की बड़ी कमी है, यद्यपि इधर कुछ पुस्तकें मनोविज्ञान और बाल मनोविज्ञान पर प्रकाशित हुई है, किन्तु साधारणत यह पाठ्य पुस्तकों के ढग की है।

इस प्रकार की पुस्तक की आवश्यकता थी जिसमें मनोविज्ञान का परिचय बालकों के जीवन की प्रतिदिन की समस्याओं के आधार पर दिया जा सके, पालन-पोषण से सम्बन्धित उन समस्याओं के आधार पर जिनका प्रत्येक माता-पिता को सामना करना पड़ता है। इसमें छोटे बच्चों के शारीरिक और मानसिक विकास की समस्याओं का विवेचन है, उनके स्वभाव के निर्माण की समस्याएं और अन्य बहुत सी छोटी-छोटी कठिनाइयों का भी विवेचन है जो बच्चों के बड़े होने में सामने आती रहती है। यह समस्याएं भावना और उद्वेग की समस्याएं है, बच्चों के छोटे-छोटे झूठ, चोरी और हठ आदि की समस्याएं है। यह सब समस्याएँ सहज ही सुलझाई जा सकती है यदि व्यक्ति थोड़ी सूझ, समझ, और विवेकपूर्ण स्नेह तथा सहानुभूति से काम ले।

इस पुस्तक की यह एक बड़ी विशेषता है कि इसमें पर्याप्त चित्र दिये गये है।

इस देश के पाठकों से मैं इस पुस्तक को पढ़ने का आग्रह करता हूं। इसमें मुझे सन्देह नहीं कि भारत में छोटे बच्चों के प्रत्येक माता-पिता और अध्यापक इस पुस्तक का स्वागत करेंगे।

ए. एल. बसु,
प्रोफेसर आव् एजुकेशन, दिल्ली विश्वविद्यालय,
प्रिंसिपल, सेंट्रल इन्स्टिट्यूट आव् एजुकेशन,
दिल्ली

दिल्ली
१४ जनवरी १९५६

विषय-सूची

अध्याय	विषय			पृष्ठ
१.	बच्चों का पालन-पोषण	...	...	११
२.	शिक्षा-दीक्षा	...	...	१८
३.	शारीरिक विकास	...	...	२५
४.	मानसिक विकास	...	...	३१
५.	समस्या कौन ? माता पिता या बालक ?	...	...	३९
६.	झूठ	...	...	४९
७.	हठ	...	...	५५
८.	चोरी	...	...	६१
९.	सामूहिक जीवन में अरुचि	...	...	६७
१०.	ईर्षा-द्वेष	...	...	७७
११.	पढ़ाई में पिछड़ना	...	...	८२
१२.	घर अथवा स्कूल से भागना	...	...	९०

आभार

स्वीडन की प्रसिद्ध फोटोग्राफर, मिसेज़ ग्रिपमन की मैं अत्यन्त आभारी हूँ। उन्होंने कृपापूर्वक मुझे अपनी कुछ फोटो इस पुस्तक में प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की है। यह चित्र बच्चों की भिन्न भिन्न मनःस्थिति, शारीरिक आवश्यकताओं तथा उनकी मानसिक प्रतिक्रिया आदि को प्रदर्शित करते हैं। इन चित्रों के अभाव में बच्चों के भावों को इस प्रकार से अंकित करना दुस्तर था। इस पुस्तक के प्रस्तुत करने में उनके यह चित्र अत्यन्त सहायक हुए हैं। अन्य चित्रों के अतिरिक्त पूरे पृष्ठ के चित्र उनकी ही कलाकृति हैं।

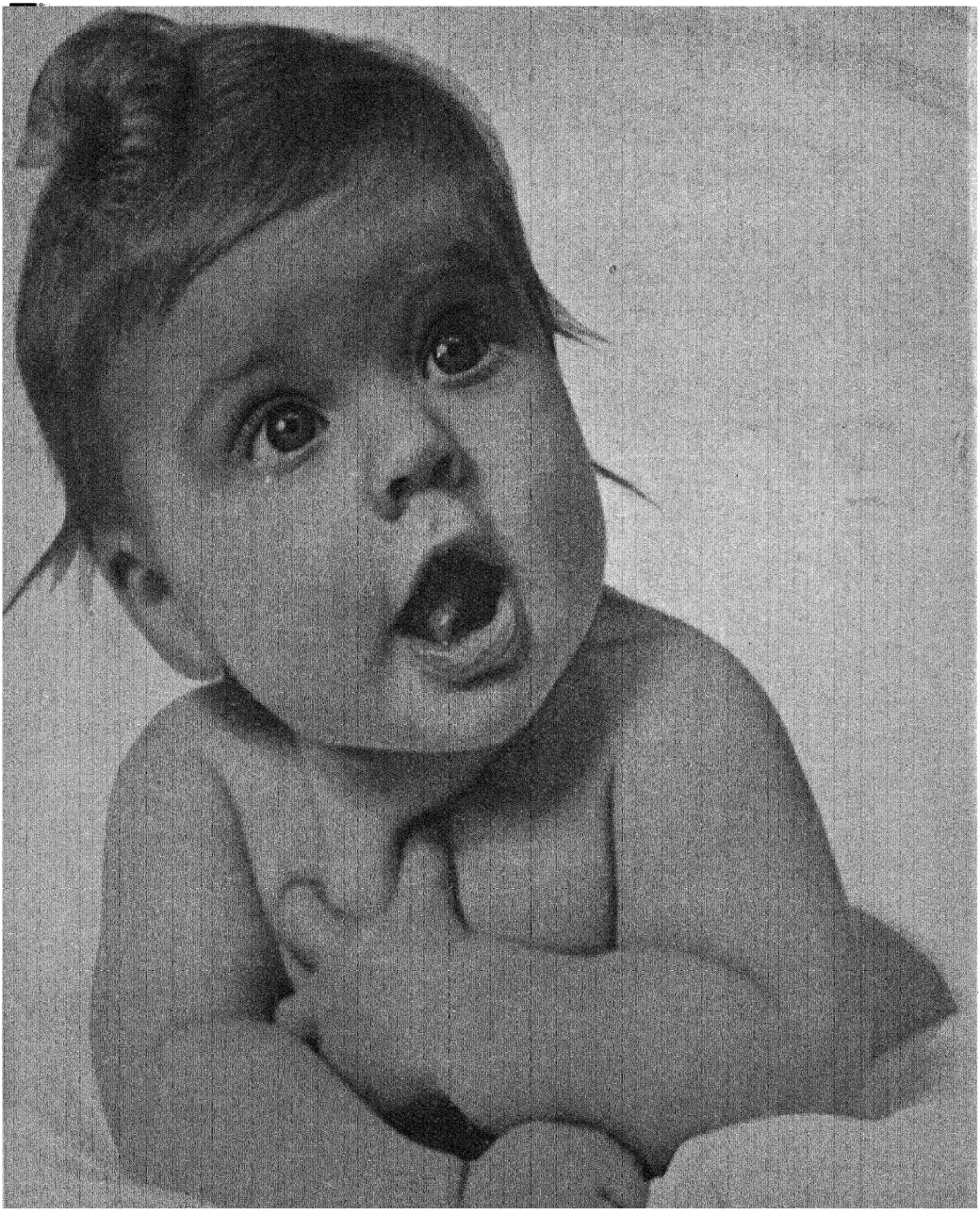
श्रीमती इन्दिरा गान्धी के प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। उन्होंने पंडितजी के साथ खेलते हुए अपने बच्चों के चित्र प्रकाशित करने की अनुमति दी है। बच्चों के प्रति सद्भाव, सहज स्नेह तथा सहानुभूति होने पर कोई भी व्यक्ति इतना व्यस्त नहीं रहता कि वह बालकों के साथ खेल कूद में भाग न ले सके, अथवा इस नैसर्गिक साधन द्वारा वह उनके मानसिक विकास में सहायक न हो सके। बच्चों के प्रति पंडितजी का सहज स्नेह सर्वविदित है। यह चित्र माता-पिता तथा अध्यापक को उनके उत्तरदायित्व का बोध कराते हैं।

अन्त में मैं कुमारी विमला सिन्धी, श्री नारायणप्रसाद गुप्ता तथा श्रीहृदयनारायण माथुर के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। उनकी अनुमति से कुछ अन्य चित्र इस पुस्तक में सम्मिलित किये जा सके हैं।

लेखिका

माता-पिताओं को

जो फूल को काँटा और काँटे को फूल बना सकते हैं



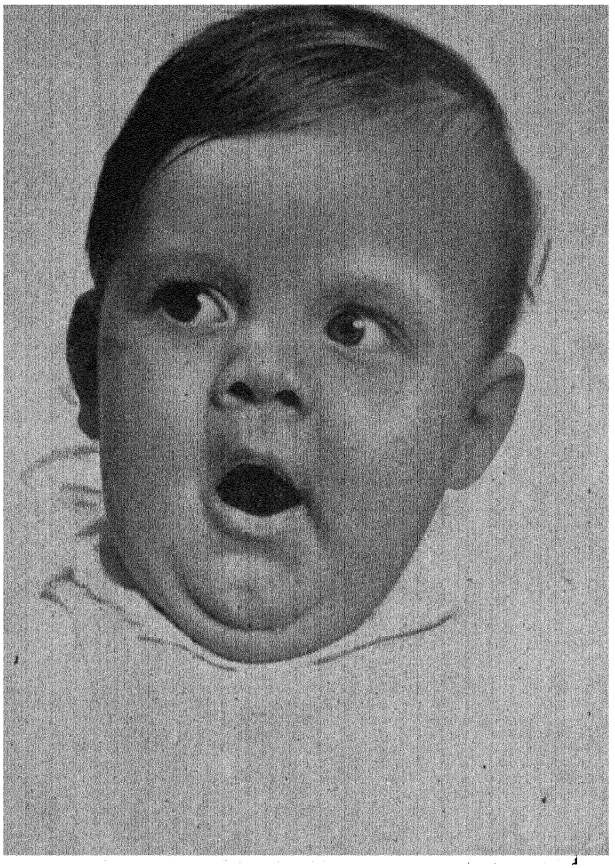
अध्याय १

बच्चों का पालन-पोषण

बच्चों के पालन-पोषण का विषय जनसाधारण के लिए महत्वपूर्ण तो है ही, परन्तु माता पिता और अध्यापकों के लिए इस विषय का महत्व विशेष उल्लेखनीय है।

शैशव में बच्चे का सम्पूर्ण संसार माँ की प्रेमभरी गोद होती है। इस अवस्था में बालक का सब से घनिष्ठ सम्बन्ध माँ से होता है, चूंकि वह ही बच्चे की इच्छापूर्ति तथा लालन-पालन का एकमात्र साधन होती है। मनुष्य-जीवन में शैशव की अवस्था इतनी निःसहाय तथा इतनी दीर्घकालीन है कि दूसरे की देखभाल के बिना बच्चे के लिये जीवित भर रह सकना असंभव है। विवशता की इस आयु में माँ ही बच्चे के निकटतम होती है। अपनी निरन्तर देखरेख से वह बच्चे की आवश्यकताओं को समझने लगती है। बच्चे की मूक भाषा से वह उसकी आवश्यकताओं तथा इच्छाओं का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेती है। उसके चेहरे की मुद्राओं को समझने में माँ साधारणतया कभी धोखा नहीं खाती। सन्तान का पालन करने में वह अपना सर्वस्व लुटा कर भी सुखी और सन्तुष्ट होती है। बच्चे को सब प्रकार के दुःख-संकट से बचाना, तथा उसे सुख और सन्तोष पहुँचाना उसके जीवन का ध्येय बन जाता है।

शैशव जीवन का सबसे महत्वपूर्ण समय है। इस में आदतों की नींव पड़ती है; वातावरण के सम्पर्क से बालक की इच्छाएँ विशिष्ट रुचियों का रूप धारण कर लेती हैं। दूसरे शब्दों में, शैशव में मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है। किन्तु बच्चे की विवशता को देखकर, तथा उसे निरा अबोध और अज्ञान मानकर माता पिता बहुधा उसके साथ बहुत मनमानी करते हैं। वे उसके मानसिक विकास की ओर ध्यान ही नहीं देते। उसकी शारीरिक आवश्यकताओं को व्यवस्थित रूप से पूरा नहीं करते; यहाँ तक कि उसके खाने, सोने तथा खेलने जैसी प्राथमिक आवश्कताओं का भी समय नियत नहीं रहता। भूख से बिलबिला कर बच्चा जब रोता है, तो उसे दूध मिलता है। ऐसे ही कुछ अनुभवों के पश्चात् बालक रोकर अपनी इस माँग को व्यक्त करना सीख जाता है। 'रोना-दूध', 'रोना-दूध' का यह क्रम माँ तथा बालक दोनों के मन में इतना पक्का हो जाता है कि चोट लगने पर या अस्वस्थ होने पर बच्चा जब रोता है तो माँ उसे तुरन्त गोद में उठाकर दूध पिलाने लगती है। इस प्रकार



मिसेज ग्रिपमन के सौजन्य से

सोना जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है

के अनियमित खिलाने पिलाने से बच्चे की केवल पाचन-शक्ति ही नहीं बिगड़ती, वह चिड़चिड़ा भी हो जाता है। परन्तु हमारी यह भूल हमारे संस्कारों में इतनी गहरी जड़ पकड़ चुकी है कि हमें इस भूल का आभास ही नहीं होता, बल्कि हम इसे कहावत के रूप में प्रयोग करते हैं–'रोये बिना माँ भी बच्चे को दूध नहीं देती'। परन्तु जिन बच्चों को रोने पर दूध मिलता है, उनके लिए रोना ही जीवन की इच्छाओं तथा आवश्यकताओं को पूरा करने का साधन बन जाता है। बड़े होने पर भी उनमें रोने की आदत बनी रहती है, केवल उसका बाहरी रूप ही बदलता है। वे दूसरे की सहानुभूति तथा दया को अपने जीवन का आधार बना लेते हैं, और दूसरे के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए अपने जीवन की कुछ दुःखभरी घटनाओं का वर्णन बारम्बार किया करते हैं। उत्साह और क्रियाशीलता का उनमें अभाव हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों का जीवन नीरस, तथा उनका साथ बोझिल हो जाता है।

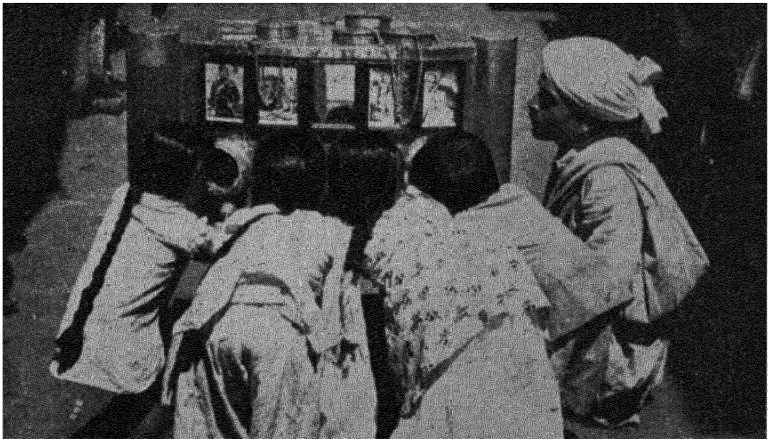
सोना जीवन की उतनी ही प्राथमिक आवश्यकता है जितना कि खाना पीना, इसलिए सोने का समय नियत होना चाहिये। परन्तु बहुधा बालक की इस शारीरिक आवश्यकता की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। बच्चे में नींद द्वारा आराम की आवश्यकता इतनी अधिक होती है कि वह कहीं भी सो जाता है। चूँकि वह बैठे बैठे, या खेलते हुए शोरगुल में भी सो जाता है, इसलिए प्रायः यही समझा जाता है कि वह कहीं भी सो सकता है; उसके सोने के लिए किसी नियम आदि की आवश्यकता नहीं है। नींद

पूरी न होने से बच्चे का स्वास्थ्य बिगड़ता है और वह सुस्त रहने लगता है, जिससे वह अन्य बालकों के साथ खेल-कूद में ठीक तरह भाग नहीं ले सकता। इस तरह इस शारीरिक आवश्यकता के साथ आपसी मेलजोल की नैसर्गिक इच्छा भी अतृप्त रह जाती है। शारीरिक रूप से अस्वस्थ तथा साथियों से अलग रह जाने के कारण बालक प्रायः चिड़चिड़ा हो जाता है, जो उसे सामूहिक जीवन से और भी दूर कर देता है।

कई माताएँ अपनी सुविधा के लिये बच्चे को अफ़ीम देकर आवश्यकता से अधिक सुलाये रखती हैं, और इस प्रकार उन्हें खेल से वंचित रखती हैं। खेल बच्चे की केवल शारीरिक वृद्धि में ही सहायक नहीं होते, इस के द्वारा बच्चे की रचनात्मक-वृत्ति को भी विकास मिलता है। खेल-खेल में बालक अपने वातावरण को समझने लगता है और सामूहिक जीवन के आनन्द को प्राप्त करता है। खेल से वंचित बालक प्रसन्नचित्त नहीं रह सकता। वह अपने को अकेला-अकेला अनुभव करता है। एकाकीपन से उसमें कई प्रकार की भावना-ग्रंथियाँ बन जाती हैं, जिससे उसके व्यवहार में तरह तरह के दोष पैदा हो जाते हैं।

बहुत से माता पिता और विशेष कर धनाढ्य व्यक्ति बच्चे का मन बहलाने के लिये उन्हें सिनेमा ले जाते हैं। खेल में प्रोत्साहन देने के भाव से उनके लिये सुन्दर-सुन्दर प्लास्टिक आदि के खिलौने लाते हैं जिन्हें प्रायः अलमारी में सजा कर रखा जाता है। ऐसे खिलौनों की नवीनता तथा सुन्दरता से प्रभावित होकर बच्चे प्रसन्न होते हैं और उन्हें अपने

सोलह मन की धोबिन देख : देख तमाशा देख



संगी साथियों को दिखलाते हैं। परन्तु यह प्रसन्न ताक्षणिक होती है। खिलौने की नवीनता के दूर होते ही बालक उनके प्रति उदासीन हो जाते हैं। ऐसे खिलौने खेलने की सामग्री नहीं बनते, वह दूर से ही देखे और दिखलाये जाते हैं। इन खिलौनों से बच्चे की अर्जन-वृत्ति तो अवश्य तृप्त होती है, किन्तु सृजनात्मक भावना अतृप्त ही रह जाती है। इसके अतिरिक्त तमाशा व जादूगर के खेल बालकों के लिये सिनेमा से कहीं अधिक रुचिकर होते हैं। सिनेमा में वह अपने साथियों से अलग बड़ों के साथ निश्चल बैठने को बाध्य हो जाते हैं। निश्चल बैठे तीन घंटे का लम्बा अरसा बिताये नहीं बीतता। वे अक्सर ऊब कर रोने लगते हैं या बैठे-बैठे सो जाते हैं। इसके विपरीत बंदरवाले की डुगडुगी व तमाशे-वाले की घंटी उनपर जादू का सा प्रभाव रखती है जिसे सुनते ही वह अपनी सुधबुध खोकर उसकी ओर भागते हैं।

खिलौना बच्चे के लिये यथार्थ में वह वस्तु है जिससे वह अपनी इच्छानुसार खेल सके, जैसा चाहे तोड़-मरोड़ सके, तथा उससे तरह तरह की शक्लें या स्थितियें बना सके। टोकरी में रस्सी बाँध कर, और उसमें पत्थर आदि भरकर बच्चा जब उसे खींचता है, तो उसे जो आनन्द उस समय होता है, वह प्लास्टिक के सुन्दर सुरक्षित रखे जानेवाले खिलौनों से कदापि नहीं मिल सकता। बच्चों की जेबों में पत्थर, काग़ज़ के टुकड़े, रस्सियाँ, बोतलों के ढक्कन इत्यादि भरे रहते हैं, जिन्हें वह क़ीमती खिलौनों की अपेक्षा कहीं अधिक ध्यान और प्यार से अपने पास रखते हैं। इसी प्रकार नीबू के दो ख़ाली टुकड़ों को लेकर और उन में धागे बाँध कर जो तराजू आदि बच्चे स्वयं बनाते हैं वे उन्हें जितने रुचिकर लगते हैं उतने बाज़ारी सुन्दर खिलौने कभी नहीं लगते। वह घंटों बैठे उनके धागे नापते हैं तथा उन में दो-दो चार-चार चने व कंकर आदि तौला करते हैं। काग़ज़ की नाव तैराना साबुन के झाग के बुलबुले उड़ाना, नदी में पत्थर फेंक-फेंक उनकी लहरों से कलोल करना कुछ ऐसे खेल हैं जिन से प्रौढ़ व्यक्ति भी अपने को सहज

बालक की निधि



रोक नहीं पाते, फिर बच्चों का तो कहना ही क्या है। उनके लिये यह खेल नित नूतन और रुचिकर होते हैं। ऐसे खेलों से बच्चों की सृजनात्मक वृत्ति को अभिव्यक्ति मिलती है। जितना बड़ा वह बुलबुला बनाता है, या जितनी दूर उसकी नाव जाती है, या जितनी पतंगें उसकी पतंग काटती है, उतनी ही उसकी आत्मगौरव की भावना तृप्त होती है। पानी की लहरों में तरह-तरह की हलचल उसके मन में तरह-तरह के भाव पैदा करती है। इस प्रकार के खेलों से मानसिक वृत्तियों का विकास होता है, उत्साह और क्रियाशीलता को उत्तेजना मिलती है, और बालक में किसी विषय में तल्लीन हो जाने की क्षमता बढ़ती है।

माता पिता का कर्तव्य बालक की केवल शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करना ही नहीं है, उसके चरित्र निर्माण का उत्तरदायित्व भी उन पर ही है। बालक के पालन-पोषण करने पर भी यदि माता पिता उसमें प्रसन्नचित्त-वृत्ति सच्चरित्रता तथा समाज-उपयोगी धन्धों की आदत नहीं बना पाते तो वह अपने कर्तव्य-पालन में अधूरे ही रह जाते हैं।

बालक बहुत से गुणों को अनजाने में ही अपने वातावरण से ग्रहण कर लेता है। वह जिसे प्यार करता है, उसके जीवन को अपना आदर्श बना लेता है, और उसके आचार-व्यवहार को अज्ञात रूप से अपनाता जाता है। उठने-बैठने, बोलने-चालने तथा अन्य व्यवहार में वह उनका प्रतिबिम्ब बन जाता है। बालक को अपने माता पिता तथा निकट-

तल्लीनता



व्यक्तियों से सहज स्नेह होता है। इसलिये माता पिता के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि जिन गुणों को वह अपनी सन्तान में देखना चाहें, उन्हें स्वयं भी अपनाएँ।

इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी अच्छे सच्चरित्र माता पिता की सन्तान का व्यवहार भी बहुत असन्तोषजनक सिद्ध होता है। ऐसी अवस्था में माता पिता निराश हो कर अपने भाग्य को कोसते हैं, परन्तु वास्तव में दोष उनके भाग्य का नहीं बल्कि उस व्यवहार का होता है जो बालकों के मन में विश्वास के स्थान पर भय पैदा कर देता है। सद्गुण पैदा करने के लिये सच्चाई ही पर्याप्त नहीं होती, सच्चाई के साथ सहानुभूति भी अत्यन्त आवश्यक है। केवल सच्चाई-प्रिय माता पिता बालक की सहज भूलों से बिगड़ कर उनकी इतनी ताड़ना करते हैं कि बच्चे भयवश अपनी प्रत्येक क्रिया को उनसे छिपाने लगते हैं। उन्हें सत् और असत् का ज्ञान नहीं हो पाता, उचित और अनुचित की समझ नहीं आती, सदा आशंका ही बनी रहती है। भूल करना मानवमात्र के लिये स्वाभाविक है। बच्चे में दूरदर्शिता का अभाव होता है, इसलिये वह अपनी क्रियाओं के दूरस्थ परिणाम नहीं सोच सकता, जिससे वह बार बार भूल कर बैठता है। उसकी भूलों पर रुष्ट होने के स्थान पर सहानुभूति से ही काम लेना उचित है। माता पिता तथा बालक में जितना विश्वास बढ़ता है, उतनी ही बालकों में अच्छे स्वभाव तथा सद्गुणों की नींव गहरी होती है।

बच्चा अभी नन्हा-मुन्ना ही होता है जब कि वह शिक्षा प्राप्ति के लिये स्कूल जाना प्रारंभ कर देता है। चूंकि प्रत्येक शिक्षा-प्रणाली का मुख्य उद्देश्य बालक के सहज गुणों को विकसित करना तथा उन्हें सच्चा और उपयोगी नागरिक बनाना है, इसलिये प्रत्येक अध्यापक के लिये यह आवश्यक है कि वह बालकों की सहज आवश्यकताओं, इच्छाओं और रुचियों आदि से भली भाँति परिचित हो। प्रत्येक बालक में कुछ गुण व रुचियाँ स्वाभाविक रूप से पाई जाती हैं। अध्यापक का कर्तव्य है कि वह बच्चे के सहज गुणों के विकास में उसका सहयोग दे। अनुकूल परिवेश व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही प्रकार से बालक के मानसिक विकास में सहायक होता है। अनुकूल वातावरण से बालक में अच्छी रुचियों और आदतों की नींव पड़ती है। परिवेश की अनुकूलता या प्रतिकूलता की जाँच अध्यापक तभी कर सकते हैं जब कि उन्हें बालक की मानसिक वृत्तियों और उनके विकास-क्रम का पूरा-पूरा बोध हो। कितने ही अध्यापक अज्ञानवश बच्चे में असम्भावित गुण पैदा करने का विफल प्रयास करने लगते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वे इस असाध्य कार्य को बच्चे के हित से प्रेरित हो कर अपने पर लाद लेते हैं। उनकी अपनी विफलता उनके मन

को खिन्न कर देती है, और तब शिक्षा सम्बन्धी सब कार्य उनके लिये अरुचिकर हो जाते हैं। साथ ही यह विफल प्रयास बच्चे के मन में कुण्ठा पैदा कर देते हैं। वह बार-बार की विफलता से क्षुब्ध होकर या तो अपने में ही सिमट जाता है, अथवा समाज के प्रति कटु हो कर समाज-विरोधी धन्धों में जुट जाता है।

बच्चे के हित उन्हीं हाथों में सुरक्षित रह सकते हैं, जिन्हें उनकी मानसिक वृत्ति, नैसर्गिक इच्छाओं, भावना तथा उनके विकास-क्रम का पूरा पूरा ज्ञान हो और साथ ही उनके अन्दर बच्चे के प्रति सहानुभूति हो।

अध्याय २

शिक्षा-दीक्षा

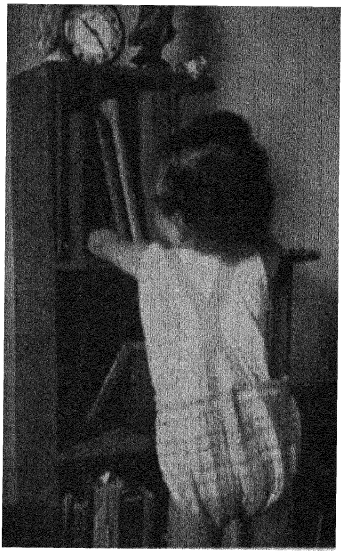
शिक्षा का कोई विशेष समय नियत नहीं होता, वह तो जन्म से ही आरंभ हो जाती है। बच्चा हर समय, हर घड़ी कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। वह क्या सीखता है, और क्यों सीखता है, इस का उसे कुछ आभास नहीं होता, परन्तु वह सीखता अवश्य रहता है।

नन्हा शिशु पड़ा पड़ा हाथ पैर मारा करता है, जिसे प्रायः खेलना कहते हैं। इससे उसके शरीर की पुष्टि होती है, उसमें चीज़ें थामने की शक्ति बढ़ती है तथा उसके विभिन्न अंगों की गति में परस्पर सहयोग और सामंजस्य पैदा होता है। माता पिता के नित्य के संपर्क से वह उन्हें कुछ ही महीनों में पहचानने लगता है। पलंग के निकट से जब वे इधर उधर जाते हैं, तो उसकी आँखें उनकी ओर लगी रहती हैं, वह किलकारी मारकर उन्हें पास बुलाता है, और यदि वे निकट नहीं आते तो होंठ फैला कर रोने लगता है, अर्थात् अनजाने में ही वह उन्हें विवश करना भी सीख जाता है। इस प्रकार बालक केवल माता पिता के चेहरे को ही नहीं पहचानते, वे उनके व्यवहार तथा स्वभाव को भी जान जाते हैं।

वर्ष भर का बालक सुगमता के साथ इधर-उधर घिसकने तथा घूमने लगता है। उस का समय अधिकतर चीज़ों की उथल-पुथल में व्यय होता है। कमरे में जहाँ जूते पड़े देख, वहीं से उन्हें उठाया, मुँह में डाला और देखते ही देखते जूते समेत चम्पत हो जाता है। माता पिता चीज़ों को संभालने तथा बच्चे को इधर उधर से पकड़ने में थक जाते हैं, किन्तु यही भाग-दौड़, अथवा उथल-पुथल बालक को प्रसन्न रखती है। केवल क्रियाशील बालक ही खुश दिखाई पड़ते हैं। क्रियाशीलता उनकी शारीरिक और मानसिक विकास की उत्तेजना है। इसलिये बालक की भाग-दौड़ में बाधक न होकर अहितकर तथा असुविधाजनक वस्तुओं को ही उसकी पहुँच से बाहर रखना उचित है।

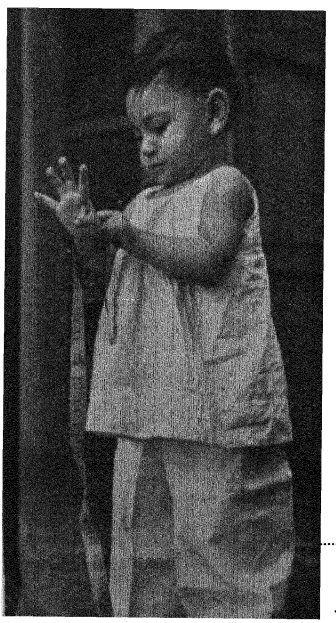
भारी या एक दूसरे के साथ सटी हुई वस्तुओं को बच्चा सुगमता से हिला नहीं पाता। खुली आलमारियों के सब से नीचे के खाने में इन्हें रखा जा सकता है। बच्चा उन्हें उठाने का प्रयत्न अवश्य करता है, परन्तु कुछ विफल प्रयासों के पश्चात् उसका ध्यान

उनसे तथा उन जैसी अन्य वस्तुओं की ओर से हट जाता है, जैसे, जब बहुत प्रयत्नों पर भी बालक एक दूसरे से सटी हुई भारी पुस्तकों को हिला नहीं पाता तो उसका ध्यान उनकी ओर से हट जाता है, जिससे कमरे में रखी अन्य पुस्तकें और कागज़ आदि भी सुरक्षित पड़े रहते हैं। बच्चे का ध्यान अधिकतर उन्हीं वस्तुओं में केन्द्रित रहता है जिनके साथ वह सुगमता से खेल सकता है, अर्थात् जिन्हें वह हिला-डुला, तोड़-फोड़ या इधर उधर फेंक सकता है। इसलिये कमरे में खिलौने आदि रखकर बच्चे के ध्यान को उन खेलों में लगाया जा सकता है जो न उसके लिये अहितकर हों, और न औरों के लिये ही विशेष असुविधाजनक।



श्री० ह० ना० माथुर के सौजन्य से

भाषा मनुष्य की विशेषता तथा सभ्यता का स्तम्भ है। बच्चा उसे अनजाने में ही अपने वातावरण से ग्रहण करता है। वातावरण के अनुकूल न हो पर भाषा को ठीक तरह सीख सकना असंभव तो नहीं, किन्तु अत्यन्त कठिन अवश्य है। जन्मजात बहरों के लिये भाषा सीखना एक ऐसी जटिल समस्या है कि बहुधा वे गूँगे ही रह जाते हैं। बहुत प्रयास द्वारा सीखने पर भी उनकी भाषा बहुत ही अधूरी रह जाती है। वस्तुओं और क्रियाओं के नाम का उच्चारण तो वे थोड़ा बहुत सीख लेते हैं, परन्तु वस्तुओं से अलग उनके गुण की परिभाषा को वे समझ नहीं पाते। उनके चिन्तन में बहुधा मूर्त प्रत्यय ही पाये जाते हैं, अमूर्त प्रत्यय को कोई विरले ही समझ पाते हैं। हेलन केलर उसका एक उदाहरण है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि भाषा की इस विशेषता को प्राप्त करने के लिये उन्हें अपने जीवन की एक बहुत लम्बी अवधि अर्थात्



उथल-पुथल

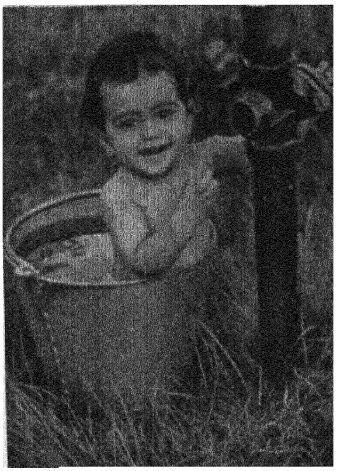
श्री० ना० प्र० गुप्ता के सौजन्य से

२५ वर्ष के लगभग व्यय करने पड़े हैं, जबकि साधारण बालक कुछ ही वर्षों में अमूर्त प्रत्यय द्वारा चिन्तन करने लगते हैं।

बच्चा अपने होठों तथा वाक्-अंगों की बनावट के कारण पहले-पहल जो ध्वनि करता है वह प-वर्ग के किसी अक्षर के उच्चारण की-सी हो जाती है, जैसे म-म-म, प-प-प, या ब-ब-ब आदि। वह उसे सहसा कहता है, और स्वयं सुनता है। सुनना कहने की उत्तेजना बन जाता है, जिससे वह उसे अकेला पड़ा भी दोहराता रहता है। माँ उसके इस उच्चारण को सुनकर, प्रसन्न हो, तुरन्त उसके पास आ पहुँचती है, उसे प्यार करती है और पुचकारती है। स्नेह और दुलार के प्रलोभन से बच्चा उस उच्चारण को बार बार दोहराने लगता है। क्रिया को इस प्रकार दोहराना उसके स्वभाव का सहज गुण है। हाथ से खिलौना छूट जाने पर यदि पास खड़ा व्यक्ति उसे उठा कर बच्चे को दे देता है, तो वह उस खिलौने को बार-बार गिराने लगता है; खिलौने को छोड़ते ही वह उसे पकड़ने के लिये हाथ भी तुरन्त फैला देता है। बच्चों का यह खेल, अर्थात् एक ही क्रिया को बार-बार दोहराना, उन्हें बहुत ही रुचिकर लगता है, किन्तु बड़ों का मन इससे जल्दी ऊब जाता है, जिससे बालक इस खेल को चाहते हुए भी बहुत देर तक चला नहीं पाते। परन्तु म-म-म की ध्वनि को माँ अपना सम्बोधन मान, प्रसन्न होकर बालक के निकट आ जाती है। धीरे-धीरे यह उच्चारण माँ के ध्यान को आकर्षित करने का साधन बन जाता है, दूसरे शब्दों में म-म यथार्थ में माँ का सम्बोधन बन जाता है। इसी प्रकार प-प या ब-ब का उच्चारण पिता का सम्बोधन शब्द हो जाता है। यद्यपि विभिन्न देशों और जातियों की भाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु लगभग प्रत्येक भाषा में माता और पिता के संबोधन शब्द प-वर्ग के अक्षरों से आरंभ होते हैं।

वह शब्द जो बालक को कुछ देते या लेते समय कहे जाते हैं, या उसकी किसी क्रिया के साथ बोले जाते हैं, उनका उच्चारण अन्य शब्दों की अपेक्षा बालक पहले करने लगता है। बच्चे की भाषा में संज्ञा और क्रिया-शब्दों की प्रधानता होती है। आरम्भ में उनके वाक्य एक-शब्दीय होते हैं, जिनमें केवल मूर्त प्रत्यय ही पाये जाते हैं, विशेषण अथवा क्रिया-विशेषण जैसे शब्दों का प्रयोग वे बहुत देर में करते हैं। तीन वर्ष की आयु में बालक छोटे-छोटे वाक्य कहने लगते हैं जिनसे उनकी जिज्ञासा ही अधिकतर व्यक्त होती है। चूँकि भाषा बालक अनजाने में ही अपने वातावरण से सीखता है इसलिये बच्चों के साथ शब्दों का शुद्ध उच्चारण करना चाहिये। बच्चों की तोतली भाषा से प्रभावित होकर बहुत से माता-पिता स्वयं भी उनसे तोतली भाषा में बोलने लगते हैं। इससे बालक

शब्दों का शुद्ध उच्चारण सीख नहीं पाते। इस प्रकार का दुलार बालक के लिये बहुत अहितकर सिद्ध होता है। बड़े होने पर उनकी तोतली भाषा संगी साथियों के हंसी-मज़ाक का विषय बन जाती है, जिससे उनके लिये सामूहिक जीवन बोझिल हो जाता है। वे उससे भय खाने लगते हैं, अर्थात् माता पिता का यह दुलार उनके सामूहिक जीवन की नैसर्गिक इच्छा में बाधा बन जाता है।



दो तीन वर्ष की आयु में बालक केवल भागता दौड़ता और चहचहाता ही नहीं है, हस्तकला में भी कुशल हो जाता है। उसकी रुचि अधिकतर उन खेलों में होती है जिनमें हाथ पैर मारने, तोड़ने-फोड़ने, या चीज़ों को इधर उधर रखने आदि की क्रिया प्रधान हो। निश्चल बैठे रहना उनके लिये एकदम असंभव-सा है। इसलिये इस आयु के बालकों के खिलौने ऐसे होने चाहिये जिन्हें वे तोड़-मरोड़ सकें, जिनकी मरहम पट्टी कर सकें तथा एक ही चीज़ की कई शक्लें बना सकें। पानी में थप-थप करना, साबुन के झाग के बुलबुले उड़ाना, रेत और मिट्टी को उछालना तथा उसस तरह-तरह के घर या अन्य खिलौने बनाना इस आयु के बालकों के स्वाभाविक खेल हैं। इस आयु में बच्चों को अपनी वस्तुएँ साबुन, तेल, कंघी, तौलिया इत्यादि रखने, कपड़े पहनने या इसी प्रकार के अन्य धन्धों में बड़ी सुगमता से लगाया जा सकता है। इन खेलों व धन्धों से उनकी रचनात्मक-वृत्ति का विकास होता है, जिज्ञासा तृप्त होती है तथा आत्म-विश्वास बढ़ता है। रुचिकर कार्य उनके खेल बन जाते हैं जिन्हें वे बारम्बार दोहराते हैं, और थोड़े ही समय में उनमें निपुण हो जाते हैं।

रचना

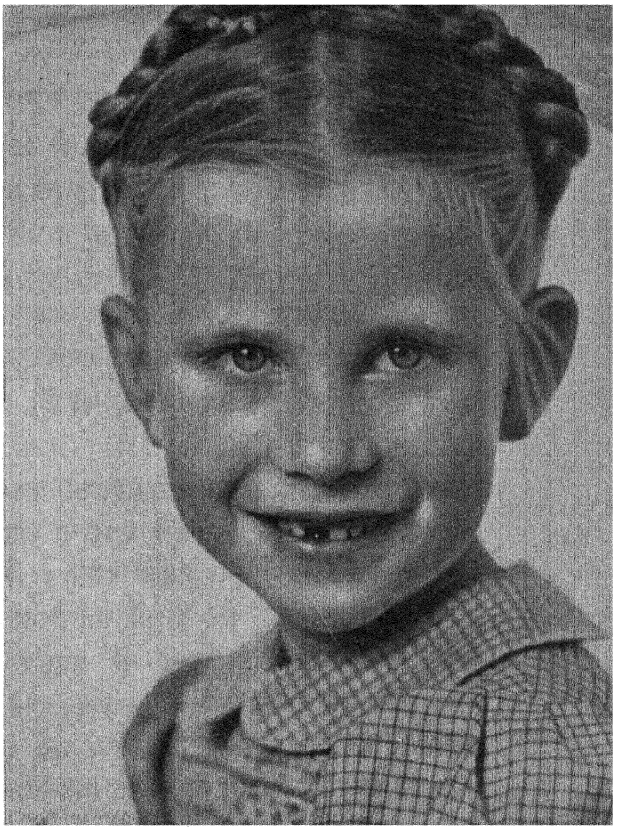


बच्चे के काम उसकी क्षमता के अनुसार होने चाहिये, जैसे एकवर्षीय बालक को दूध

का गिलास थामना तो सिखाया जा सकता है किन्तु शब्दों का शुद्ध उच्चारण व स्वयं कपड़े पहन सकना उसकी सामर्थ्य के बाहर है। तीन वर्ष के बालक में जिज्ञासा बहुत तीव्र हो जाती है। वह सब कुछ जानना चाहता है। आप क्या हैं, क्या कर रहे हैं, क्यों कर रहे हैं, कहाँ जा रहे हैं, क्यों जा रहे हैं, नदी किसने बनाई है, बच्चे कहाँ से आते हैं इत्यादि। ऐसे प्रश्न वे दिन भर किया करते हैं। तीन-चार वर्ष का बालक लगभग तीन सौ प्रश्न रोज़ पूछता है। बच्चे की जिज्ञासा को इस प्रकार उत्तेजित देखकर, तथा उसमें सीखने की इच्छा प्रबल पाकर कुछ माता पिता उन्हें अक्षर-बोध कराने लग जाते हैं। इस आयु में दूर की चीज़ों को देखने की दृष्टि तो तेज़ होती है, किन्तु निकट की वस्तुओं के लिये उनकी दृष्टि उतनी अच्छी नहीं होती। माता पिता बच्चे की जिज्ञासा पर भरोसा रखकर उन्हें पढ़ाने-लिखाने लग जाते हैं जिसका प्रभाव उनकी आँखों पर बहुत बुरा पड़ता है। वह जल्दी थक जाते हैं और किताबों से उनका मन उचाट होने लगता है। फलस्वरूप जब पढ़ने लिखने का समय आता है, तो वह पढ़ना नहीं चाहते, किताबों के नाम से दूर भागते हैं; परन्तु यदि पढ़ाने के स्थान पर उन्हें छोटी छोटी कविताएँ सिखाई जातीं, या मिट्टी और रेत से खेलने का अवसर दिया जाता तो उनकी भाषा भी शुद्ध हो जाती और सृजनात्मक क्रियाओं में भी रुचि पैदा होती। खेल-खेल में वातावरण का ज्ञान भी बढ़ता और हस्तकला में भी कुशलता आ जाती।

क्रिया-कुशलता बच्चों में आत्म-विश्वास पैदा करती है। बच्चों की क्षमता को दृष्टि में रखते हुए उन्हें भिन्न-भिन्न क्रियाओं में लगाये रखना ही उत्तम है। कुछ माता पिता अपनी सुविधा के कारण बालक के वह सब कार्य स्वयं कर देते हैं, जिनके लिए बालक में क्षमता और रुचि दोनों ही होती हैं। बालकों के छोटे छोटे धन्धों को इस प्रकार स्वयं कर माता पिता अपना वह समय बचा लेते हैं जो बच्चों को सिखलाने और समझाने में व्यय होता है और बच्चा भी उस समय किये कराये काम को पाकर सन्तुष्ट दिखाई पड़ता है। परन्तु ऐसा करने से बच्चा उस आनन्द से वञ्चित रह जाता है जो किसी क्रिया को सफलतापूर्वक करने पर मनुष्य को होता है। इसके अतिरिक्त बच्चे में काम करने के स्थान पर काम करवाने की इच्छा बढ़ती है। उसमें इच्छाएँ अधिक और उत्साह कम हो जाता है। वह अपने को समाज के लिए समझने के स्थान पर दूसरों को अपने लिए, अर्थात् अपनी इच्छापूर्ति का साधन समझने लगता है। बड़े होने पर इस प्रकार की भावना का निराशा में परिणत होना अनिवार्य है। निराशाएँ उनके मन को कुंठित कर देती हैं, और वे समाज के प्रति कटु होकर असामाजिक धंधों में लग जाते हैं। इसका परिणाम

माता पिता, तथा बालक दोनों ही के लिए असन्तोषजनक होता है; अर्थात् वह माता पिता जो ममतावश बालक के सब काम स्वयं कर देते हैं, उनके साथ अन्याय करते हैं। अपने अज्ञान के कारण बालकों का हित चाहते हुए भी वे उनके साथ अहित कर बैठते हैं। माता पिता को बच्चों के छोटे छोटे धंधों में सहयोग तो अवश्य देना चाहिये, किन्तु उनकी क्रियाओं को स्वयं कर उन्हें सफलता के आनन्द से वंचित रखना भूल है। छोटे छोटे धंधों को स्वयं करने से बच्चों को केवल सफलता का आनन्द ही प्राप्त नहीं होता, उनका आत्म-विश्वास और उत्साह भी बढ़ता है। जिस काम को बालक एक बार सफलता पूर्वककर लेते हैं, उसे वे बार बार दोहराते हैं। ऐसा करने से उन्हें सफलता और सुगमता दोनों का ही अनुभव होता है। कोई क्रिया जितनी बार दोहराई जाती है, उतनी ही उसकी आदत पक्की होती है।



मिसेज़ ग्रिपमन के सौजन्य से

सरल उल्लास

आदत केवल क्रिया की ही नहीं होती, सोचने-विचारने तथा रहन-सहन की भी होती है। किसी घटना की बार-बार आवृत्ति होने से व्यक्ति अनजाने में ही उसका आदी हो जाता है; जैसे, जिन घरों का वातावरण शीलवान् और सुन्दर होता है, उन घरों के बालक प्रायः सहनशील और शान्तिप्रिय होते हैं। वे सदा उल्लसित और प्रफुल्लचित्त दिखाई पड़ते हैं। उनके सामाजिक जीवन में सद्भावना और सज्जनता पाई जाती है।

जिन घरों का वातावरण कलह या गंदगी से दूषित रहता है, वहाँ के बच्चे उसी के आदी हो जाते हैं। गाली-गलौज करना, लड़ना-झगड़ना, मैला कुचैला रहना उन्हें अखरता नहीं।

बच्चे जब स्कूल जाने लगते हैं तो उन्हें अपने बड़प्पन का अनुभव होता है। उन्हें ऐसा लगता है कि वे बड़े हो गये हैं, जिनके अस्तित्व का निरादर नहीं किया जा सकता। वे घर की महत्वपूर्ण बातों में बिना पूछे अपनी राय देने लगते हैं। लड़कियाँ माँ के साथ रसोई घर में काम कर खुश होती हैं, गुड़ियों की शादियाँ करती हैं, और छोटे भाई-बहनों की देख रेख में भी अपने बड़प्पन का परिचय देती हैं।

लड़के अधिकतर टोलियाँ बना कर कूद फाँद करते हैं। वे काठ के घोड़े बनाते हैं, चारों ओर पेड़ों पर चढ़े दिखाई देते हैं; साईकल, घड़ी इत्यादि को खोलकर अक्सर इंजीनियर बन बैठते हैं।

इस आयु के बालक आस-पास की सब सूचनाएँ रखते हैं। वे कभी कभी माता पिता की भी अवहेलना कर बैठते हैं। बहुत से माता पिता बच्चे की इस स्वाधीनता से भय खाने लगते हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि उनका बड़प्पन ही खतरे में है। वह बच्चों को डरा-धमका कर उनकी स्वाधीनता को रोकने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु ऐसा करना केवल बच्चों के साथ ही अन्याय नहीं, स्वयं अपने साथ भी अन्याय है। माता पिता का बल बच्चों की निर्बलता नहीं, अपनी योग्यता स्नेह और सहानुभूति है। बच्चों को अच्छा नागरिक बनाने के लिये उन्हें धीरे धीरे स्वाधीनता की ओर ले जाना माता पिता का सच्चा कर्तव्य है। जो व्यक्ति स्वयं स्वाधीन नहीं होते, वह दूसरे को भी स्वाधीन देख कर खुश नहीं होते। उनका जीवन कटुता की खान बन जाता है, जिसका परिणाम कभी कल्याणकर नहीं हो सकता।

बच्चे का घर ही उसका संसार होता है, इसलिये माता पिता का कर्तव्य हो जाता है कि वे बच्चे के अस्तित्व का आदर कर उसे आपसी मेल-जोल के जीवन की ओर अग्रसर करें। जिन घरों में बच्चों को ऐसा करने का अवसर नहीं दिया जाता, वह बड़े होकर भी स्वाधीनता के साथ समाज में अपना स्थान नहीं बना पाते। वह दूसरों की दया के पात्र रह जाते हैं। फलस्वरूप ऐसे बच्चों का जीवन व्यक्तिगत रूप से नीरस तथा समाज के लिये अनुपयोगी हो जाता है।

अध्याय ३

शारीरिक विकास

साधारणतया सब बालकों में शारीरिक विकासक्रम एक-सा होता है. बच्चा बैठने से पहले सिर उठाने और चलने से पहले घिसकने लगता है।

बालक के शारीरिक विकास का क्रम सिर से पैर की ओर बढ़ता है। बाँहों की लम्बाई टाँगों की अपेक्षा पहले बढ़ती है। कुछ ही दिनों में बच्चों के कुरतों की बाँहें छोटी हो जाती हैं। इसी प्रकार उनके हाथों में चीज़ें थामने की शक्ति थोड़े ही समय में आ जाती है और कुछ ही महीनों में वह हाथों और बाँहों के सहारे अपने को उठाने का प्रयत्न करने लगता है, जबकि पाँवों के सहारे खड़े हो कर चलने में वर्ष भर, अथवा इससे भी अधिक समय लग जाता है।

यद्यपि शारीरिक विकासक्रम सब बालकों में समान होता है, किन्तु इस विकास की गति सब में समान नहीं होती। कुछ बालक एक वर्ष की आयु में चलने लगते हैं, और कुछ चलना सीखने में इससे कहीं अधिक समय ले लेते हैं। इसी प्रकार कुछ बच्चे दूसरे बच्चों की अपेक्षा बोलने भी जल्दी लगते हैं। इसके यह अर्थ नहीं कि डेढ़ साल में चलने वाला, या देरी में बोलने वाला बालक दूसरे बालकों की अपेक्षा बहुत पिछड़ा हुआ है। माता पिता, बालक के शारीरिक विकास के स्वाभाविक नियम से अनभिज्ञ होने के कारण, कभी कभी बालक को पिछड़ा हुआ मानकर व्यर्थ में ही चिन्तित होने लगते हैं।

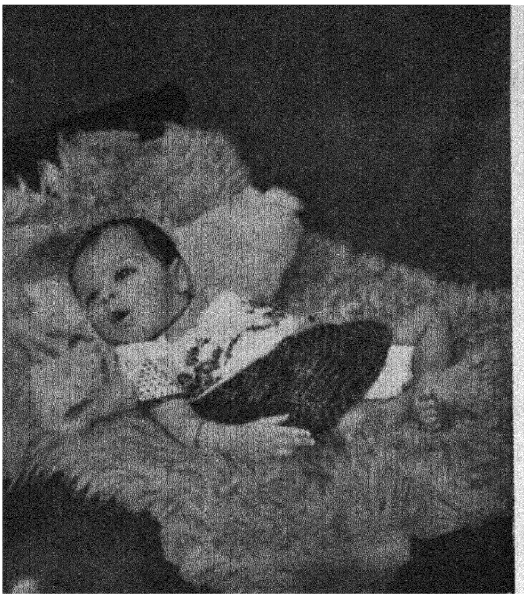
बालकों के शारीरिक विकास की गति में वैयक्तिक भिन्नता स्वाभाविक है। इस गति को अपनी इच्छा के अनुसार बढ़ाया नहीं जा सकता। जो माता पिता ऐसा प्रयास करते हैं, वह मानो पत्थर पर दूब जमाना चाहते हैं। देखने में आता है कि कुछ माता पिता दो तीन महीने के बालक के हाथ पकड़ कर उसे खड़ा होना सिखाने लगते हैं, अर्थात् जब बालक बैठना भी नहीं जानता, उस समय वे उसे खड़ा होना सिखाना चाहते हैं। इसी प्रकार पाँच छः महीने की आयु में वह उसे थाम-थामकर चलाने लगते हैं, ताकि बालक जल्दी से चलना सीख जाय। ऐसे बच्चों की टाँगें टेढ़ी-सी हो जाती हैं। ऐसे प्रयास केवल विफल ही नहीं हानिकर भी होते हैं। उपयुक्त समय पर स्वतः आनेवाली क्षमता के लिये

तरह तरह के प्रयत्न करना, और उन की विफलता पर खिन्न होना कितना दुःखप्रद और कष्टकर है। जो क्रिया बालक की सहज क्षमता के अनुसार होती है, उसमें बालक को सफलता प्राप्त होती है। वह उसे रुचिपूर्वक दोहराता है, जैसे, बालक जब चलना सीखता है, तो वह रोके नहीं रुकता, गिरता पड़ता दिन भर चलने में लगा रहता है, और कुछ ही दिनों में वह इस क्रिया में निपुण हो जाता है। बालक का डगमगाते हुए प्रसन्नचित्त चलना कितना सुखद और प्रिय लगता है !

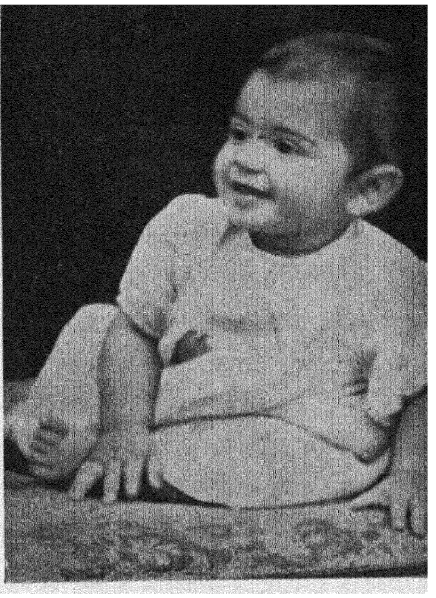
शारीरिक गठन में बालक बहुत कुछ अपने माता पिता के समान होते हैं, किन्तु यह समानता सर्वथा पूर्ण नहीं होती। कारण स्पष्ट है। बालक माता तथा पिता दोनों से मिलता है। इसलिये वह सम्पूर्णतया किसी एक से नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त बालक की वैयक्तिक विशेषता में उसके पूर्वजों का भी प्रभाव रहता है। फलस्वरूप, माता-पिता की विशेषता को रखते हुए भी बालक सम्पूर्णतया उन जैसा नहीं होता। वह अपने वंश तथा जाति से भी मिलता-जुलता है। अर्थात् ऊँचे क़द के माता-पिता की सन्तान ऊँची तो होती है, किन्तु अपने माता-पिता से साधारणतः कुछ कम। इसी प्रकार छोटे क़द के माता-पिता की सन्तान छोटी होते हुए भी, माता-पिता से साधारणतः ऊँची होती है।

शारीरिक विकास पर परिवेश का बहुत गहरा प्रभाव रहता है। यदि परिवेश अनुकूल नहीं होता तो बालक की शारीरिक वृद्धि की सहज गति में बहुत बाधा पड़ती है, शारीरिक विकास अपनी सहज गति से डगमगा जाता है। जैसे, शिशु हाथ पैर मारकर अपने शरीर की पुष्टि करता है। किन्तु जहाँ बालक को गोद में रखा जाता है, वहाँ उसे ऐसा करने का अवकाश नहीं मिलता। न उसे शारीरिक व्यायाम ही मिलता है, और न उसकी पाचन क्रिया ही ठीक प्रकार से हो पाती है। इससे उसके शारीरिक विकास में बहुत बाधा पड़ती है।

बहुत से रोग जो प्रायः वंशज समझे जाते हैं यथार्थ में एक-से परिवेश और विशेषकर एक-सी ख़ूराक का परिणाम होते हैं। इन्फैन्टाइल लिवर जो बच्चों का घातक रोग है, मुसलमान बच्चों की अपेक्षा हिन्दू बच्चों को अधिक होता है। चूँकि दोनों जातियों के रहन-सहन, तथा ख़ूराक बहुत भिन्न हैं, इसलिये एक जाति के बालक इससे बच जाते हैं जबकि दूसरी जाति के बालक इसका सहज लक्ष्य हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि आहार का दोष ही इस रोग का कारण है। चूँकि एक घर के बालकों की ख़ूराक एक-सी रहती है, इसलिये यह रोग बहुधा वंशगत प्रतीत होने लगता है।



एक मास



नौ मास

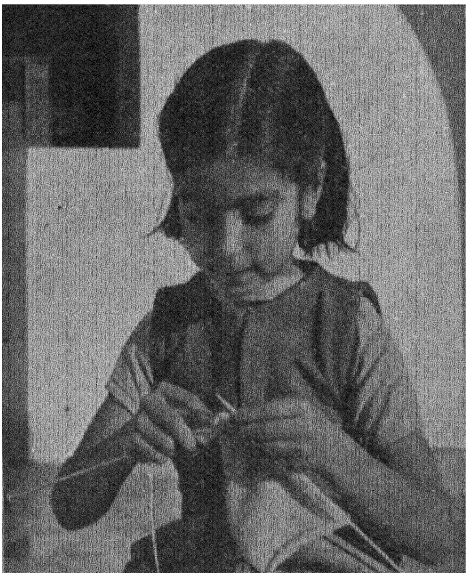
शारीरिक विकास की गति सदा एक सी तीव्र नहीं रहती। पहले वर्षों में बच्चा तेज़ी से बढ़ता है: परन्तु ज्यों ज्यों वह बड़ा होता है, उसके विकास की गति क्रमशः धीमी पड़ती जाती है। पहले वर्ष में बालक का वज़न जन्म से तिगुना हो जाता है जबकि दूसरे वर्ष में वज़न में केवल चार-पाँच पौण्ड की ही वृद्धि होती है। कुछ और बड़ा हो जाने पर उसकी वृद्धि और भी धीमी पड़ जाती है, और कभी कभी तो वह रुकी-सी ही दिखाई पड़ती है। छः, सात, आठ वर्ष के बालक समान ही दिखाई पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में कभी-कभी माता-पिता बच्चे के स्वास्थ्य के संबंध में शंकित हो जाते हैं, किन्तु शारीरिक वृद्धि का यह लक्षण स्वाभाविक है। यद्यपि बाहरी रूप से बालक उन्नति करता दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु वास्तव में वह उन्नति के पथ पर रहता है। इन दिनों उसके शरीर की पुष्टि होती है, जिससे वह कुछ दिनों पश्चात् फिर तेज़ी से बढ़ने लगता है।

बच्चे के विभिन्न अंगों की वृद्धि न समान क्रम से और न समान गति से ही होती है। कुछ अंग पहले बढ़ते हैं और कुछ बाद में। कुछ अंगों के बढ़ने की गति बहुत तीव्र होती है, और कुछ की मंद। बच्चे का सिर जन्म के समय शरीर की लम्बाई का चौथा भाग होता है। पाँच वर्ष की आयु में बालक का सिर लगभग पूरे आकार का हो जाता है। उसके उपरान्त बच्चे के सिर का घेर एक इंच से भी कम बढ़ता है। किन्तु यह बात अन्य सब शारीरिक अंगों

के संबंध में सत्य नहीं है। ५-१० वर्ष की आयु में बालक के क़द में कुछ विशेष वृद्धि नहीं होती, जब कि इस आयु के उपरान्त वह बहुत तीव्र गति से बढ़ता है। बड़े होने पर उसका बचपन का रूप-रंग, साँचा-ढाँचा, अर्थात् शारीरिक रूप और गठन इतना भिन्न हो जाता है कि उसे बचपन का बढ़ा हुआ आकार नहीं कहा जा सकता। उसके रूप में शारीरिक विकास से ऐसी परिवर्तित विशेषताएँ आ जाती हैं कि बाल्यकाल के परिचय के आधार पर उसे पहचाना नहीं जा सकता।

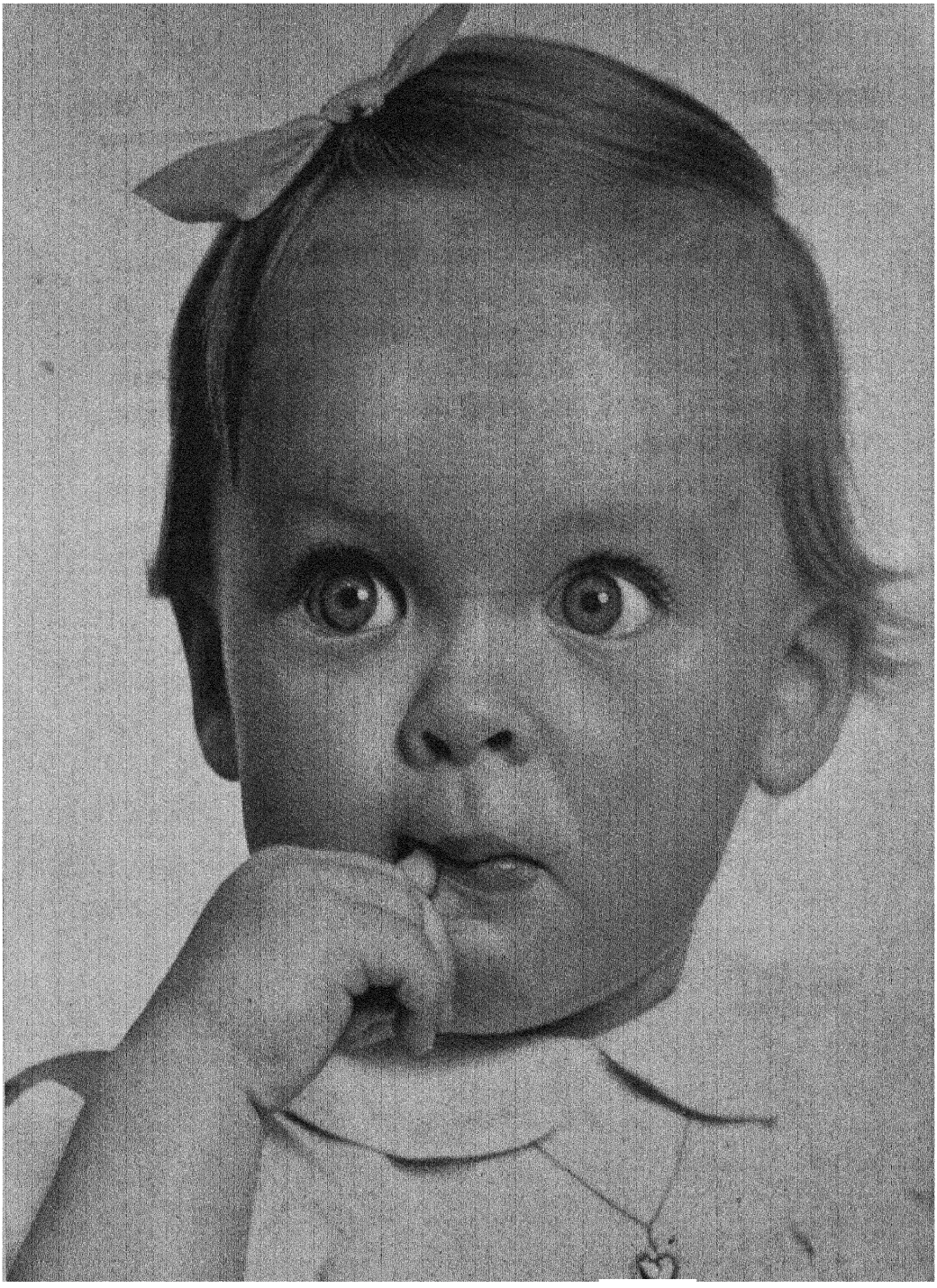
लड़के और लड़कियों के बढ़ने की गति तथा क्रम एक-सा नहीं होता। लड़कियाँ वज़न और लम्बाई में लड़कों से थोड़ा कम अवश्य होती हैं, किन्तु जन्म के समय उनके शरीर की गठन तथा ढाँचा, लड़कों की अपेक्षा अधिक विकासशील होता है। जन्म के समय शारीरिक गठन में वे ऐसी होती हैं जैसा एक मास का लड़का। चूंकि उनके शारीरिक वृद्धि की गति लड़कों की अपेक्षा तीव्र होती है, इसलिये वह छः वर्ष की आयु में लड़कों की अपेक्षा लगभग एक वर्ष आगे हो जाती हैं; अर्थात् छः वर्ष की बालिका शारीरिक गठन में सात वर्ष के बालक के समान होती है। शीघ्र प्रौढ़ हो जाने के कारण, घर के काम-धाम में, बहन भाइयों की देखभाल में, तथा अन्य नन्हें धन्धों में वह अपने समवयस्क बालकों की अपेक्षा अधिक क्रिया-कुशल तथा निपुण हो जाती है। वह घर के कामों में माता पिता का हाथ बटाने लगती है। लड़के और लड़कियों के शारीरिक विकास के इस सहज भेद से अनभिज्ञ होने के कारण, माता पिता लड़कों को लापरवाह इत्यादि समझकर उन पर रोष प्रगट करते हैं। कभी कभी माता पिता पर भी यह दोषारोपण किया जाता है कि वह लड़कों की अपेक्षा लड़कियों से अधिक काम लेते हैं। उनका लड़कों जैसा लाड़-दुलार नहीं करते। यथार्थ में यह दोष न माता पिता का है, और न लड़कों का। यह तो प्रकृति का नियम है, जिसके विरुद्ध चलने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। माता पिता को तो केवल प्रकृति का साथ देते हैं, ताकि बच्चे स्वस्थ रहें और अपनी सहज गति तथा क्रम से बढ़ें और फूलें।

कला कामना



इसके अतिरिक्त लड़कियाँ, लड़कों की अपेक्षा प्रौढ़ भी शीघ्र हो जाती हैं। १३-१५ वर्ष की आयु में बालिका नन्हीं युवती हो जाती है, जबकि

लड़का केवल बालक ही लगता है। बालिका हस्तकला में अधिक निपुण हो जाती है। सिलाई-कढ़ाई में उसे विशेष रुचि हो जाती है। चूंकि शारीरिक विकास के साथ, उसके उद्‌गारों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन आ जाते हैं, इसलिये उसका व्यवहार भी बहुत कुछ बदल जाता है। प्रशंसा पाने की इच्छा उसमें प्रबल हो उठती है। वह इस इच्छापूर्ति के लिये, अपने परिवेश के अनुसार भिन्न भिन्न कार्य्यों में तल्लीन हो जाती है जब कि उसका समवयस्क बालक भाग-दौड़, खेल-कूद में ही मस्त दिखाई पड़ता है। एक दो वर्ष पश्चात् बालक भी तीव्र गति से बढ़ने लगता है, और कुछ ही दिनों में वह भी बालिका की भाँति नवयुवक दिखाई देने लगता है।



अध्याय ४

मानसिक विकास

प्राथमिक इच्छाएँ नैसर्गिक होने के कारण सब बालकों में प्रायः एक सी होती हैं। शारीरिक अवस्था व वातावरण से उत्तेजना पाकर भूख, भय, जिज्ञासा आदि मूल प्रवृत्तियाँ नैसर्गिक इच्छाओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं, तथा बालक को क्रियाशील कर देती हैं। यद्यपि इन इच्छाओं के लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान बालक को नहीं होता, तो भी वह उन्हें तृप्त करने के लिये तरह-तरह की चेष्टा करने लगता है। चेष्टा के सफल होने पर उसे सुख और आनन्द होता है। उससे प्रभावित होकर वह उस कार्य को बार-बार दोहराता है। जो चेष्टा असफल रहती है वह स्वयं ही कमज़ोर पड़ जाती है। बच्चा अनजाने में ही उसे त्यागकर नयी क्रियाविधि को अपनाता है। क्रिया की सफलता या असफलता के आधार पर बच्चा अपने वातावरण की विवेचना करता है। वातावरण की यह विवेचना व्यक्त और अव्यक्त रूप से सदा ही बालक के मन में होती रहती है, जिससे धीरे धीरे अनजाने में ही वह अपने वातावरण की विशेषताओं को समझने लगता है। उदाहरणार्थ, जो माता बहुत भावुक होती है और बच्चे के तनिक से रोने पर विवश हो जाती है, उसके बच्चे प्रायः रोने को अपनी माँगों को पूरा करवाने का साधन बना लेते हैं। ऐसे बच्चे घर पर भी रोते हैं, और बाहर खेल में भी; परन्तु बाहर वह प्रायः तभी रोते हैं, जब उनकी माँ या कोई अन्य पक्षपाती उनके निकट रहता है। ऐसा तो देखने में आया ही होगा कि बच्चा अपने साथियों से किसी बात पर बिगड़कर चुपचाप घर को चल देता है। वह भली भाँति जानता है कि दूसरे बच्चों पर उसके रोने-धोने का कुछ प्रभाव नहीं होगा, परन्तु माँ को दूर से देखते ही, या घर के निकट पहुँचते ही वह ज़ोर से मुँह फाड़कर चिल्लाना शुरू कर देता है। माँ के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित पाते ही वह बेहाल हो जाता है। दूसरे बच्चों के प्रति माँ का एक-आध रोषपूर्ण वाक्य उसके रोने चिल्लाने को तीव्रतर कर देता है। वह बिना आँसू ही इतना चीखता और चिल्लाता है कि माँ विवश होकर दूसरे बच्चों से झगड़ कर उनका खेल बिगाड़ देती है। इस प्रकार की सहानुभूति उस समय तो बच्चे में सुख और सन्तोष की भावना पैदा करती है, और माँ स्वयं भी दूसरों का खेल बिगाड़कर अपने बच्चे के दुःख का बदला चुका लेती

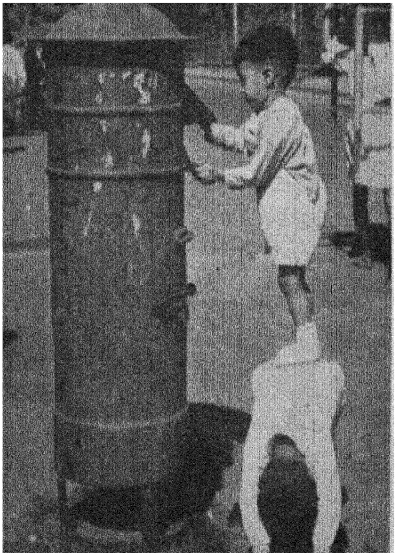
है। किन्तु उस समय का यह सुख व सन्तोष बालक के भावी जीवन में कितना अहितकर सिद्ध होता है, इसका उन्हें तनिक भी अनुमान नहीं होता। दूसरे बच्चे उन्हें अकेले में पाकर अपने बदले चुकाते हैं, उनकी हँसी उड़ाते हैं और बार बार खेल से बाहर निकाल देते हैं। फल-स्वरूप वह आपसी मेलजोल के जीवन से दूर हटने लगते हैं। ऐसे वातावरण में पला बच्चा दूसरे की निर्बलता को अपना बल समझता है, उसे अपनी क्षमता व त्रुटियों का सही ज्ञान नहीं होता। उसमें आत्म-विश्वास का अभाव रहता है।



उलझन

परन्तु जहाँ माता शान्त और गंभीर स्वभाव की होती है, बच्चे के इस प्रकार के रोने चिल्लाने की ओर ध्यान नहीं देती, वह उसकी उचित आवश्यकताओं को पूरा करती हुई उसकी अनुचित माँगों को दृढ़तापूर्वक रोक देती है, वहाँ बच्चा माँ की निर्बलता को अपना बल नहीं बना पाता। वह अपनी योग्यतानुसार अपनी छोटी छोटी समस्याओं को स्वयं सुलझाता है, तथा अनुभवों से अपनी योग्यता और त्रुटियों को समझने लगता है जिससे उसमें धीरे धीरे आत्म-विश्वास पैदा हो जाता है। ऐसा बालक माँ से आदर और विश्वास का बर्ताव करता है। वह जानता है कि माँ उसके रोने से क्रुद्ध हो सकती है, किन्तु विवश नहीं।

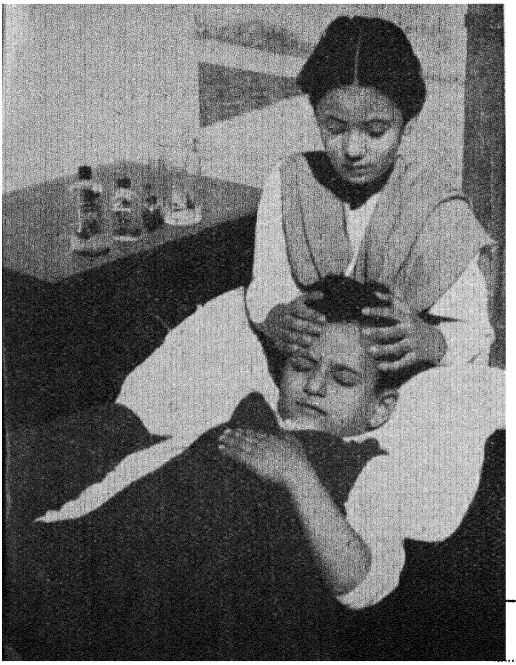
सुलझ गयी



इस प्रकार शैशव से ही बच्चा अपने वातावरण को समझने लगता है। वातावरण की समझ-बूझ बुद्धि की तीव्रता के अनुसार रहती है। जीवन के पहले वर्षों में बालक प्रत्यक्ष स्थिति को ही वास्तविक मानता है। अप्रत्यक्ष स्थिति का उसके मन में कुछ अस्तित्व नहीं होता; अर्थात् आँख से ओझल वस्तु बच्चे के लिये वास्तविक नहीं होती, या यूं कहिये कि वह उसके लिये होती ही नहीं है। बच्चा केवल प्रत्यक्ष स्थिति को ही समझता है और उसी को महत्व देता है, अपनी क्रिया के दूरस्थ परिणाम को वह सोच ही नहीं

सकता। बच्चा माँ को पहचानता है, उसके गुस्से से डरता है, उसका प्यार पाना चाहता है, उसके लिये माँ का गुस्सा उसके कटु शब्द या गुस्से से तमतमाता हुआ चेहरा है, माँ की ममता उसका लाड़-प्यार या स्नेहमयी गोद है, इसी लिये माँ की गोद में जब कोई अन्य बालक आ बैठता है तो उसका अपना बालक खिन्न होकर रोने लगता है, वह किसी प्रकार भी उसे गोद में से उतार कर स्वयं वहाँ बैठ जाना चाहता है। बच्चे को इसका अनुमान नहीं होता कि लाड़-दुलार के अतिरिक्त भी स्नेह या ममता हो सकती है। परन्तु ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता है, अपने अनुभव के आधार पर माँ के भाव भी समझने लगता है। बच्चे की दूरदर्शिता उसकी बुद्धि की तीव्रता पर निर्भर करती है।

बुद्धि निःसन्देह प्रकृति की देन है। व्यक्ति अपनी इच्छानुसार उसमें वृद्धि नहीं कर सकता, किन्तु वह जन्म से ही पूर्णरूप से विकसित नहीं होती। बुद्धि के पूर्ण विकास में कई वर्ष लग जाते हैं। बच्चा ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, उसकी बुद्धि भी तीव्र होती जाती है। शैशव तथा बाल्यकाल में बुद्धि के विकास के प्रति किशोरावस्था की अपेक्षा बहुत तीव्र होती है। पहले छः सात वर्ष में बुद्धि में लगभग पचास प्रतिशत वृद्धि हो जाती है। इसके उपरान्त बुद्धि के विकास की गति क्रमशः धीमी पड़ती जाती है, अर्थात् किशोरावस्था में बुद्धि-विकास की गति बहुत धीमी पड़ जाती है। अठारह वर्ष की आयु के लगभग बुद्धि अपने पूर्ण विकास को पहुँच जाती है, जिसका लाभ व्यक्ति जीवन भर उठाता है। यद्यपि अठारह वर्ष की आयु में व्यक्ति की यह मानसिक शक्ति, अर्थात् बुद्धि, प्रौढ़ हो जाती है, किन्तु अनुभवी न होने के कारण इस आयु का बालक प्रौढ़ व्यक्तियों जैसा विवेकशील नहीं होता। जैसे जैसे उसके अनुभव बढ़ते हैं, उसकी विवेक शक्ति भी तीव्र होती जाती है।



सेवा-सुश्रूषा

जिस प्रकार लड़के और लड़कियों की शारीरिक विकास की गति में अन्तर रहता है उसी प्रकार उनकी बुद्धि के विकास की गति में भी भिन्नता पाई जाती है। शैशव तथा

बाल्यकाल में यह अन्तर बहुत स्पष्ट नहीं रहता, परन्तु तेरह चौदह वर्ष की आयु में यह भेद स्पष्ट हो जाता है। तेरह चौदह वर्ष की बालिका नन्ही युवती हो जाती है, जबकि इस आयु का लड़का केवल बालक ही दिखाई पड़ता है, उसके व्यवहार में अल्हड़पन ही प्रधान होता है। माँ के व्यवहार का सहज अनुकरण करती हुई बालिका अनजाने में ही घर के काम धन्धों में प्रवृत्त हो जाती है, सिलाई-कढ़ाई करने लगती है, रसोई में माँ का हाथ बटाती है, सेवा-सुश्रूषा में व्यस्त रहती है। बालिकाओं की इस प्रकार की रुचि तथा तत्परता को देख कर, माता पिता लड़कों को प्रायः लापरवाह आदि समझने लगते हैं, तथा उनसे बात-बात पर बिगड़ते हैं। माता पिता का यह अकारण रोष लड़कों के मन को अत्यन्त खिन्न कर देता है जिससे उनके स्वभाव में बहुधा चिड़चिड़ापन आ जाता है। पंद्रह सोलह वर्ष के बालक का शारीरिक और मानसिक विकास इस तीव्र गति से होता है कि सत्रह-अठारह वर्ष की आयु में वह अपनी समवयस्क बालिकाओं के समान प्रौढ़ तथा क्रिया-कुशल हो जाता है। यद्यपि सामाजिक व्यवस्था के अनुसार उनकी क्रिया का क्षेत्र अलग-अलग रहता है किन्तु अपने-अपने क्षेत्र में उनकी क्रियाकुशलता समान होती है।

बुद्धि मनुष्य की वैयक्तिक विशेषता है, अर्थात् इसकी तीव्रता में व्यक्तिगत भेद बहुत पाये जाते हैं। बुद्धि-परीक्षण का उद्देश्य इस वैयक्तिक विशेषता की अनुमापित जाँच करना है। बच्चे अधिकतर सामान्य बुद्धि के होते हैं। स्कूल तथा घर का वातावरण भी साधारणतया, सामान्य बुद्धि के बालकों के अनुकूल ही होता है, इसलिये अधिकतर बच्चे स्कूल तथा घर की साधारण माँगों को पूरा करने में समर्थ होते हैं। अपने समवयस्क बालकों के साथ खेल-कूद तथा काम-धन्धे में भी वह हिलमिल जाते हैं।

परन्तु कुछ बालक मन्द बुद्धि के और कुछ तीक्ष्ण बुद्धि के होते हैं। मन्द बुद्धि के बालकों में भी बहुत व्यक्तिगत भेद पाया जाता है। कुछ तो इतने जड़ या मूर्ख होते हैं कि उन्हें ऐसा मानने में माता पिता को विशेष कठिनाई नहीं होती। ऐसे बच्चे बहुधा या तो स्कूल भेजे ही नहीं जाते, और यदि भेजे भी जाते हैं तो वे प्रारंभिक कक्षाओं में ही बिना किसी उन्नति के इतना समय लगा देते हैं कि उन्हें स्कूल से अलग करना आवश्यक हो जाता है। इन बच्चों की मूर्खता इतनी स्पष्ट रहती है कि उनकी देख-भाल तथा शिक्षा-दीक्षा के लिये प्रायः विशेष व्यवस्था की जाती है।

समस्या तो वास्तव में वह बालक होते हैं, जो साधारण बुद्धि के बालकों से कुछ ही कम बुद्धि के होते हैं। इन्हें प्रायः स्थूल-बुद्धि या मोटी बुद्धि के बालक कहा जाता है। ममता

के कारण, माता पिता को उन्हें मन्द बुद्धि का समझने में कठिनाई होती है। वे ऐसे बालकों से भी सामान्य बुद्धि के बालकों की सी आशाएँ बाँध लेते हैं, जिन्हें पूरा करना इन बच्चों की सामर्थ्य के बाहर होता है। माता पिता उनकी कमज़ोरी नहीं समझते, अथवा समझते हुए भी उसे मानना नहीं चाहते। उन्हें उन कार्यों के लिये बाध्य करते हैं जिन्हें वे बहुत प्रयत्न करने पर भी पूरा नहीं कर पाते। बार-बार की असफलता से केवल बालक ही दुखी नहीं होते, माता पिता स्वयं दुखी होकर, बच्चों को लापरवाह आदि समझकर उन्हें दिन रात कोसने लगते हैं। इस प्रकार माता पिता तथा बच्चों के परस्पर संबंध में विश्वास के स्थान पर कटुता आ जाती है।

मन्द बुद्धि के बालक सर्वथा निकम्मे नहीं होते, वे हस्तकला में कुशल हो सकते हैं। प्रत्यक्ष स्थिति को समझने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं होती, परन्तु वे दूरदर्शी नहीं होते। वस्तु की वास्तविकता को छोड़कर उसके भाव को पकड़ना उनके लिये यदि बिलकुल असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। अमूर्त अथवा प्रतीकात्मक चिन्तन की क्षमता उनमें नहीं पाई जाती। इसलिये गणित विद्या में वे कुशल नहीं हो सकते, भाषा के हेर-फेर को वे अच्छी तरह समझ नहीं पाते। माता पिता ममतावश जब उन्हें इन कार्यों के लिये बाध्य करते हैं तो वास्तव में अनजाने में ही वे बालक के जीवन को निराशा की ओर ढकेल देते हैं।

चूँकि स्कूलों का कार्यक्रम प्रायः साधारण बालकों की आवश्यकताओं को दृष्टिगोचर रखते हुए नियत किया जाता है, इसलिये स्थूल बुद्धि बालक स्कूल में अन्य बालकों की अपेक्षा पिछड़े रहते हैं। माता पिता के आग्रह से या अध्यापक के भय से वे उन कामों को बार-बार करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु कार्य की जटिलता उनकी बुद्धि की अपेक्षा कहीं अधिक होती है। इसलिये बहुत प्रयास करने पर भी वे उनमें सफल नहीं होते। अध्यापक अन्य बच्चों के सामने उनकी हेठी करते हैं जिससे केवल पढ़ने-लिखने की ओर से ही उनका मन उचाट नहीं हो जाता, वे बहुधा सबके प्रति कटु भी हो जाते हैं। वे दूसरे बच्चों से ईर्षा करने लगते हैं, उनके काम को बिगाड़कर मन ही मन प्रसन्न होते हैं। अपने को दण्ड व दूसरों की हँसी से बचाने के लिये कई बार वे चुपके से अन्य बच्चों के काम की नक़ल करते हैं। अर्थात् ऐसे वातावरण में वह झूठ बोलना सीखते हैं, चोरी करने लगते हैं। मन्द बुद्धि होने के कारण वे अपनी क्रिया के दुष्परिणाम नहीं सोच सकते। किन्तु मन्द बुद्धि के बालक को यदि हस्तकला में उचित शिक्षा व प्रोत्साहन मिलता रहे तो वह भी सफलता का आनन्द प्राप्त

कर सकता है, जिससे उसमें आत्म-सम्मान की भावनाएँ पैदा होती हैं, आत्म-विश्वास बढ़ता है, तथा वह समाज का उपयोगी सदस्य बनने की चेष्टा करता है।

बुद्धि कितनी भी मन्द क्यों न हो, संसार का कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत तथा विभिन्न प्रकार की क्रियाओं से परिपूर्ण है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि तथा रुचि के अनुसार सहज ही कार्य मिल सकता है। परन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि बालक को किसी विशिष्ट क्रिया के लिये बाध्य करने के स्थान पर, उसे विभिन्न प्रकार की क्रियाओं से परिपूर्ण वातावरण में अपनी रुचि के अनुसार किसी क्रिया को अपनाने का अवकाश दिया जाय। इसी लिये शिक्षा का क्षेत्र केवल पढ़ने-लिखने तक ही सीमित नहीं होना चाहिये। नियत कार्यक्रम के अतिरिक्त उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की हस्तकला, संगीत, नृत्य, नाट्यकला आदि का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है। ऐसे वातावरण में बालक को अपनी बुद्धि तथा रुचि के अनुसार कार्य चुनने में कठिनाई नहीं होती। कठिनाई तो वास्तव में उस समय पैदा होती है जब कि माता-पिता बालक को बरबस उन कार्यों में जुटे रहने के लिये बाध्य करते हैं जिनके लिये बच्चे में न रुचि होती है और न पर्याप्त बुद्धि ही।

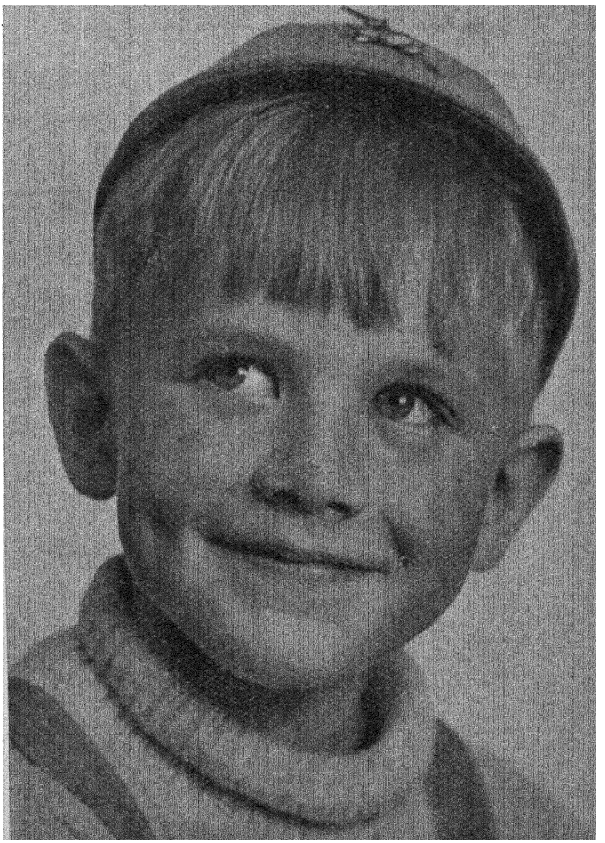
इसी प्रकार कुछ बालक तीक्ष्ण-बुद्धि के होते हैं। तीक्ष्ण-बुद्धि बालक अपनी आयु के बालकों से अधिक क्रियाकुशल तथा समझदार होते हैं। स्कूल का साधारण कार्य-क्रम, जो प्रायः सामान्य बालकों की योग्यता तथा आवश्यकताओं को दृष्टिकोण में रखकर नियत किया जाता है, तीक्ष्ण बुद्धि के बालकों के लिये इतना सरल और सुगम हो जाता है

मॉडर्न स्कूल, दिल्ली के सौजन्य से

लय : अनुशासन, मनोरंजन और आत्माभिव्यक्ति



कि उसे सफलतापूर्वक करने के लिये इन बालकों को विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। चूँकि सफलता का यथार्थ आनन्द मनुष्य को केवल उन्हीं धन्धों के करने से मिलता है जिनके लिये उन्हें थोड़ा बहुत प्रयास भी करना पड़े, इस लिये स्कूल के साधारण कार्य-क्रम को सफलतापूर्वक करने पर भी तीक्ष्ण-बुद्धि बालक सफलता के यथार्थ आनन्द से वंचित ही रह जाते हैं। इसलिये प्रत्येक स्कूल में साधारण कार्यक्रम के अतिरिक्त कुछ कार्य ऐसे भी होने चाहिये, जैसे वाद-विवाद, वाक्चातुर्य प्रतियोगिता व निबंध प्रतियोगिता, नाट्यकला आदि जिनमें तीक्ष्ण-बुद्धि बालक अपनी योग्यता तथा इच्छानुसार अपना समय और ध्यान लगा सकें। इन कार्यों से उनका उत्साह तथा आत्म-विश्वास बढ़ता है, और आत्म-सम्मान की भावनाएँ तृप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त इन कार्यों द्वारा वे अपने समय का सदुपयोग करना सीखते हैं। इनके अभाव में तीक्ष्ण-बुद्धि बालकों का मन स्कूल क साधारण कार्य-क्रम से ऊब जाता है। ऐसी अवस्था में वे या तो तरह तरह की शरारत करने लगते हैं, या कक्षा में बैठे-बैठे दिवास्वप्न में खोये रहते हैं, जिससे वह स्कूल तथा घर दोनों ही के लिये समस्या बन जाते हैं। इनकी अरुचि और शरारत निःसन्देह दूसरों के लिये बहुत बार असुविधाजनक होती है, किन्तु उनके अपने भविष्य जीवन के लिये वह विशेष कष्टकर व अहितकर सिद्ध नहीं होतीं। बुद्धि की तीव्रता के कारण वे अपनी क्रिया के दूरस्थ परिणाम सोच सकते हैं तथा अपने को भद्दे या अहितकर कामों से बचा सकते हैं। इन बालकों की शरारत बहुधा उनके मन बहलाने का साधन होती है। प्रायः तभी तक वे समस्या बने रहते



मिसेज़ ग्रिपमन के सौजन्य से
नटखट

हैं जबतक कि उन्हें अपनी बुद्धि तथा रुचि के अनुसार काम नहीं मिलता। ऐसे काम के मिलते ही वे उसमें इस लगन के साथ मग्न रहते हैं कि काम ही उनके जीवन का खेल व मन बहलाने का साधन बन जाता है।

इसलिये बुद्धि की मन्दता या तीव्रता के कारण बालक को समस्या समझना केवल भूल ही नहीं, बालक के साथ अन्याय भी है। बुद्धि के मन्द या तीक्ष्ण होने से बालक समस्या नहीं बन जाता। समस्या तो यथार्थ में बालक तब बनता है जब उसे उसकी मानसिक तीव्रता या रुचि के प्रतिकूल धन्धों में बरबस ढकेल दिया जाता है। इसलिये बालक में मानसिक विकार पैदा करने की समस्या वास्तव में उस समाज की है जो बच्चे से ऐसी आशाएँ बाँध लेता है जिन्हें पूरा करना साधारणतः बालक की सामर्थ्य के बाहर होता है। अतः माता पिता तथा स्कूल का कर्तव्य है कि वह बालक से आशाएँ बाँधने के स्थान पर उसके अस्तित्व को पहचानें तथा उसका आदर करें, जिससे बच्चे को अपनी रुचि तथा योग्यतानुसार विकसित होने का अवकाश मिले।

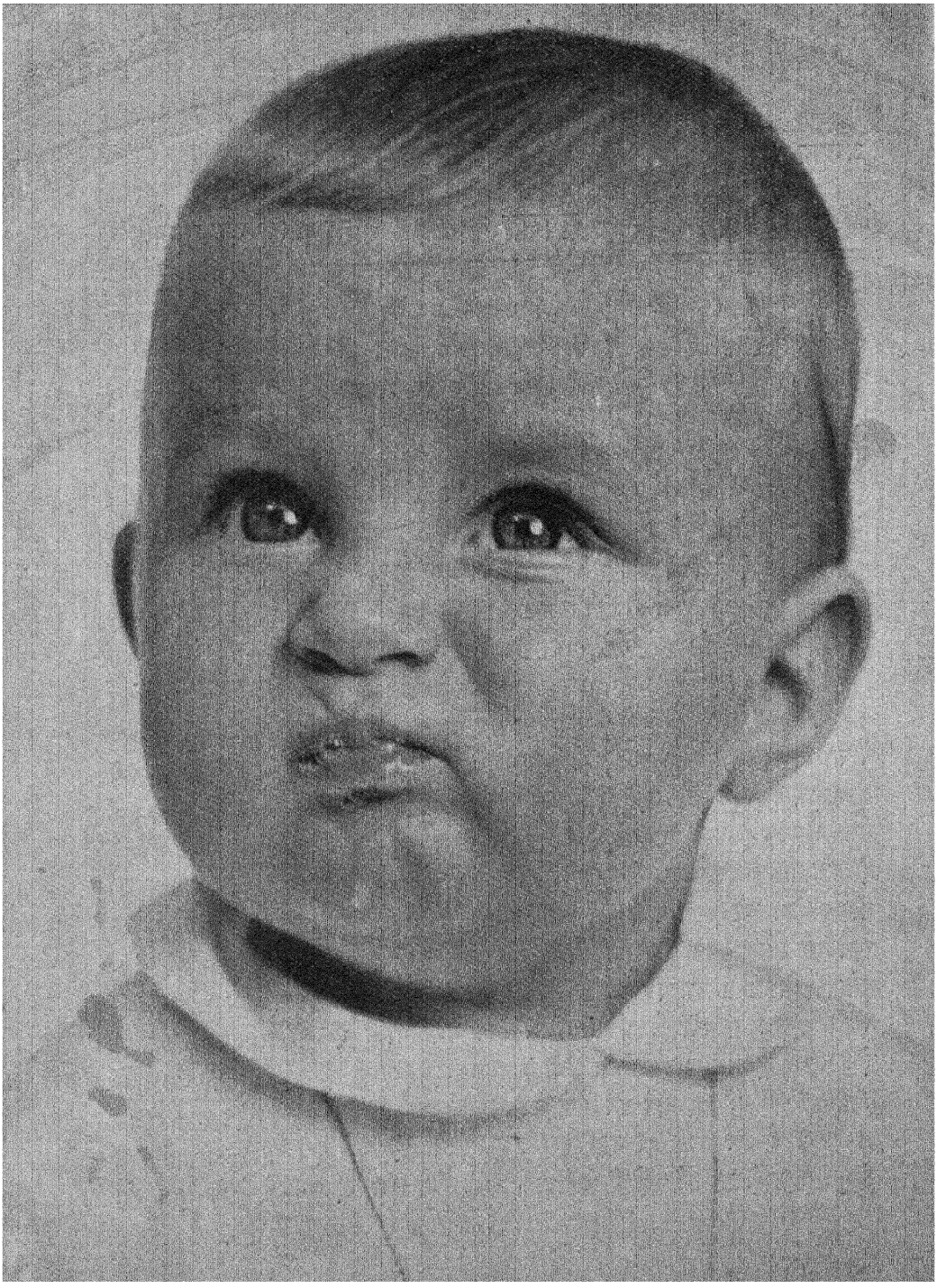
अध्याय ५

समस्या कौन ? माता पिता या बालक

बच्चा सरल स्वभाव होता है। उसकी इच्छाएँ बहुत कुछ स्वाभाविक और भाव सहज रहते हैं। शारीरिक आवश्यकताएँ भी सब बच्चों में साधारणतः समान होती हैं। नियत समय पर दूध मिल जाने पर और नींद ठीक रहने पर वह प्रायः सन्तुष्ट रहते हैं। उनके प्राथमिक व्यवहार में बहुत कुछ समानता दिखाई पड़ती है। किसी प्रकार के शारीरिक कष्ट होने पर वह रो देते हैं और सन्तुष्ट होने पर पड़े-पड़े हाथ-पैर मारा करते हैं, जिसे प्रायः खेलना कहते हैं। खेलते हुए बच्चे के हाथ पैर ज़रा थाम लीजिए, वह हिलाना चाहे तो हिलाने न दीजिये, देखिए उसका चेहरा कैसे तमतमा जाता है। वह हाथ पैर छुड़ाने के लिये अपनी पूरी शक्ति लगाने लगता है, उस पर भी यदि वह अपने को छुड़ा नहीं पाता तो रोने लगता है। इसी प्रकार यदि उसके निकट ज़ोर से कुछ पटक दिया जाय तो वह डर के मारे चौंक पड़ता है।

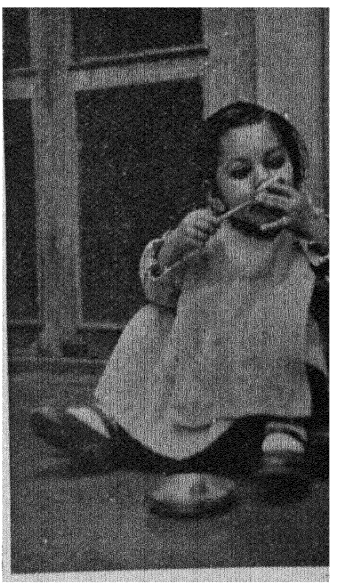
इस प्रकार की छोटी छोटी घटनाओं से बालक का जीवन आरंभ होता है, परन्तु जैसे जैसे वह बढ़ता है उसके अनुभव का क्षेत्र भी बढ़ने लगता है जिससे उसके व्यवहार में वैयक्तिक भिन्नता आ जाती है। उदाहरणार्थ, आरंभ में सब ही बच्चे आकस्मिक ऊँची आवाज़ से डर कर चौंक पड़ते हैं, किन्तु अलग अलग प्रकार के रहन-सहन के कारण कुछ समय के पश्चात् उनके व्यवहार में व्यक्तिगत भेद आ जाते हैं। ऊँची आवाज़ के सहसा आते ही कुछ बालक कुतूहलवश ठीक उसी दिशा की ओर भागते हैं जिधर से आवाज़ आती है, और कुछ बालकों के प्राण भय से सूखने लगते हैं। इसी प्रकार लगातार शोर-गुल में रहनेवाले बालक बहुधा ऊँची आवाज़ के प्रति उदासीन ही दिखाई पड़ते हैं। अर्थात् पूर्वानुभूति की भिन्नता के कारण समान स्थिति भी सब बालकों के लिये समान नहीं रहती। इसी प्रकार विभिन्न अनुभवों के पश्चात् भिन्न भिन्न स्थितियों से एक-सी प्रतिक्रिया उत्तेजित होने लगती है, जैसे बालक केवल ऊँची आवाज़ या धमकी से ही नहीं डरता, सन्नाटे के वातावरण या माँ के माथे पर हल्के से बल देख कर भी उसका मन सहम जाता है।

बच्चे हर समय, हर घड़ी कुछ न कुछ सीखते ही रहते हैं। वह अपने वातावरण के गुण सहज ही अपनाते जाते हैं, जैसे मुस्कराना। लोग प्रायः यही समझते हैं कि मुस्कराना



सहज क्रिया है, इसे सीखना नहीं होता; मन प्रसन्न होने से चेहरे पर मुस्कराहट अपने आप ही आ जाती है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। मुस्कराना वास्तव में व्यक्ति की वह सीखी हुई क्रिया है जिसे सीखने में उसे अपना ध्यान अथवा समय व्यय नहीं करना पड़ता। इसी लिये बहुधा इसे सहज गुण समझा जाता है। किन्तु यथार्थ में माताएँ ही बच्चों को मुस्कराना सिखाती हैं। यदि वह न मुस्करातीं तो बालकों को भी कभी मुस्कराना न आता।

दूध पीते समय बच्चे के होंठ आगे को सिमट जाते हैं। दूध पीकर सन्तुष्ट होते ही वह अपने होठों को फैलाता है, अर्थात् उन्हें ढीले छोड़ देता है। ऐसा करने से उसे आराम मिलता है। परन्तु वात्सल्य से परिपूर्ण माता इसे बच्चे की मुस्कराहट समझ कर स्वयं मुस्करा देती है। इस तरह बच्चे को देखकर माता, और माता को देख कर बच्चा मुस्कराता जाता है; धीरे धीरे दूसरे को मुस्कराते देख कर स्वयं मुस्करा देने की प्रतिक्रिया इतनी पक्की हो जाती है कि बहुधा अपरिचित व्यक्ति को मुस्कराते देखकर व्यक्ति अनजाने में ही मुस्करा देता है। चूँकि आरंभ में यह प्रतिक्रिया अधिकतर शारीरिक आवश्यकता की तृप्ति के तुरन्त उपरान्त होती है,इसलिये मुस्कराना एक प्रकार से व्यक्ति के सुखद अनुभव का प्रतीकात्मक रूप बन जाता है। मन प्रसन्न होते ही चेहरे पर मुस्कराहट आ जाती है। मुँह चिढ़ाना, बुलबुले उड़ाना आदि मुद्राओं की भाँति यदि माता मुस्करानेपर भी ध्यान न देती तो वह भी उसके व्यवहार का सहज अंग न बन जाता। दुर्भाग्यवश यदि किसी बालक को इस प्रकार मुस्कराती माँ का वात्सल्य प्राप्त नहीं होता तो वह मुस्कराना भी सहज रूप से नहीं सीख पाता।



श्री० ना० प्र० गुप्ता के सौजन्य से

इसी प्रकार दायें या बायें हाथ का जो विशेष प्रयोग बाहुल्यता से किया जाता है, और जिसे प्रायः मनुष्य का नैसर्गिक गुण समझा जाता है, वह भी शैशव की शिक्षा-दीक्षा का परिणाम होता है। स्वाभाविक रूप से बालक के दोनों हाथों की शक्ति व क्षमता समान होती है। वे चीज़ें थामने व पकड़ने को कभी दाँया हाथ बढ़ाते हैं और कभी बाँया, और कभी कभी उत्सुकतावश दोनों हाथ साथ ही बढ़ा देते हैं। खाना खाते समय बालक को देखिये, वह कभी दाँये हाथ से खाता है और कभी बाँये से। चम्मच, गिलास, कटोरी इत्यादि पकड़ने में दोनों हाथों का एक साथ प्रयोग करता है। उसके व्यवहार में दाँये या बाँये हाथ के प्रयोग के प्रति कुछ विशेष झुकाव नहीं



होता। परन्तु माता-पिता तथा अन्य लोग व्यक्त तथा अव्यक्त रूप से उसे दाँयें हाथ के प्रयोग में प्रोत्साहित करते रहते हैं। चीज़े दाँये हाथ से दी और ली जाती हैं, चम्मच दाँये हाथ में पकड़ाया जाता है, हाथ मिलाने के लिये बालक यदि बाँया हाथ बढ़ाता है तो उसे न थाम कर दाँये हाथ को बढ़ाने के लिये कहा जाता है, इत्यादि। धीरे धीरे उसे दाँये हाथ की आदत पड़ जाती है, जिससे दाँया हाथ काम धन्धे में विशेष निपुण हो जाता है।

किन्तु कुछ व्यक्ति समाज की रोक-टोक करने पर भी बाँये हाथ से ही सब काम-धन्धा करते हैं। इन्हें यदि दाँये हाथ के प्रयोग के लिये बाध्य किया जाय तो इनकी क्रिया शोभाहीन हो जाती है, हस्तकला के प्रति उनमें अरुचि पैदा हो जाती है। उनके दाँये हाथ की क्रिया में वह कुशलता नहीं पाई जाती जो बाँयें हाथ के काम में होती है। इसीलिये इनके बेंहत्थेपन को जन्मजात समझा जाता है।

बेंहत्थे व्यक्ति अधिकतर वे होते हैं जिन्हें शैशव तथा बाल्यकाल में दाँये हाथ के अंगूठा चूसने की आदत पड़ जाती है। दाहिना हाथ सोते जागते सदा मुँह में रहने के कारण चीज़ें पकड़ने, थामने तथा अन्य काम-धन्धे में प्रयोग नहीं किया जाता। फलस्वरूप वे इन सब के लिये बाँये हाथ को काम में लाते हैं, जिससे धीरे धीरे वे बाँये हाथ के प्रयोग में अभ्यस्त हो जाते हैं। माता-पिता का आग्रह उन्हें दाँये हाथ को प्रयोग में लाने को प्रेरित करता है। किन्तु, उनके लिये उसका प्रयोग उतना सुविधाजनक नहीं होता जितना कि बाँये हाथ का। इससे वे हस्तकला के प्रति उदासीन हो जाते हैं; बड़ों के आग्रह पर वे दाँये हाथ का प्रयोग तो अवश्य करने लगते हैं, परन्तु हाथ के काम के प्रति उनमें अरुचि पैदा हो जाती है।

कुछ बालकों को बायें हाथ के साधारण प्रयोग से इस प्रकार टोका जाता है कि उनके लिये उस हाथ का प्रयोग बड़ों से प्रतिशोध का रूप बन जाता है। इसलिये दाँये हाथ के प्रयोग की शिक्षा जहाँ तक हो सके अव्यक्त रूप से ही दी जानी चाहिये, अन्यथा बार बार की रोक-टोक से बालक में दाँये हाथ के प्रयोग के प्रति कटु भावना के बन जाने का अंदेशा रहता है, वह बड़ों की अवहेलनास्वरूप बाँये हाथ का प्रयोग करने लगता है।

दायें हाथ के प्रयोग की प्रथा सब देशों तथा जातियों में पाई जाती है, इसलिये यह प्रश्न अवश्य उठता है कि यदि दोनों हाथों की क्षमता व शक्ति समान है तो जनसाधारण ने बायें हाथ की अपेक्षा दायें हाथ के प्रयोग को क्यों अधिक उचित माना और अपनाया। इस संबंध में कहा जाता है कि पुरातन काल में जब विभिन्न जातियों को अपने जीवन तथा स्थान की रक्षा के लिये सदैव दूसरी जातियों से लड़ना-झगड़ना पड़ता था, उस समय उन्होंने देखा

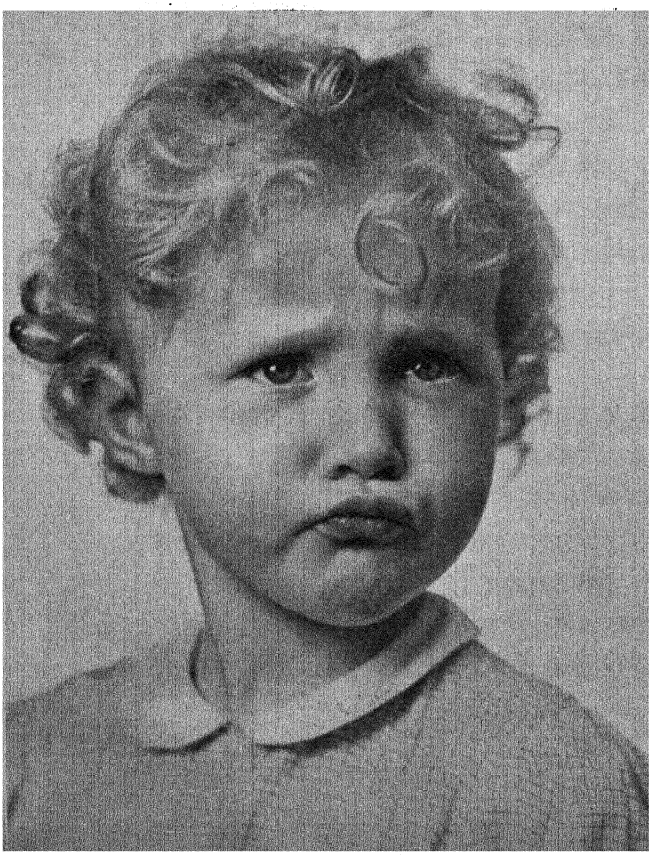
कि जो व्यक्ति ढाल को बायें हाथ में पकड़कर दायें हाथ से लड़ते हैं वे दूसरों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित रहते हैं। चूँकि दिल बाईं ओर है, इसलिये बायें हाथ से पकड़ी हुई ढाल उनकी अधिक रक्षा कर सकती है। फलस्वरूप मनुष्यों ने अपनी सन्तान को दायें हाथ के प्रयोग में प्रोत्साहित किया, दायें हाथ की सुविधा को दृष्टिगोचर रखकर अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य वस्तुएँ बनायीं जिससे अनजाने में ही मनुष्यमात्र दायें हाथ के प्रयोग में निपुण होता चला गया। फलस्वरूप दायें हाथ का प्रयोग ही हमें सहज तथा सुविधाजनक दिखाई पड़ता है। दायें हाथ में कुछ दोष आ जाने पर व्यक्ति बिना किसी विशेष कठिनाई के बायें हाथ का प्रयोग करने लगता है और उसकी क्रियाकुशलता में कुछ विशेष अन्तर नहीं आता, इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के दोनों हाथों की क्षमता अथवा शक्ति समान है। दायें या बायें हाथ का विशेष प्रयोग उसकी शैशव की शिक्षा-दीक्षा पर निर्भर करता है।

इस प्रकार ज्ञात तथा अज्ञात रूप से बालक अपने वातावरण स कुछ न कुछ सीखते ही रहते हैं, जिससे उनके प्राथमिक व्यवहार में बहुत परिवर्तन आ जाते हैं। वातावरण की शिक्षा-दीक्षा से उनमें विशिष्ट गुण या दोष पैदा हो जाते हैं। सच्चाई, भलाई, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, झूठ, फरेब, चोरी, सादगी सब वातावरण की ही देन माननी चाहिये। इसीलिये मनोवैज्ञानिकों का मत है कि मानसिक विकार की समस्या वास्तव में बच्चों की नहीं, बल्कि उनके माता-पिता की है। कोई बच्चा अपने से न सच्चा है, न झूठा, न चोर है न साधु। बालक तो केवल सरल स्वभाव का होता है। निःसन्देह बच्चे में कुछ सहज इच्छाएँ रहती हैं, जिन्हें तृप्त करने के लिये वह तरह-तरह की चेष्टा किया करता है। वातावरण के अनुकूल होने पर बालक की चेष्टा सुगम और सहज रहती है, परन्तु प्रतिकूल वातावरण में उनकी चेष्टा अपनी सीधी राह से डगमगा जाती है। वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये उन प्रयत्नों को भी प्रयोग में लाते हैं जो बहुधा समाज की दृष्टि में अनुचित माने जाते हैं। ऐसे धन्धों की सफलता से उनका दुस्साहस बढ़ता है, वह उन्हें बारम्बार प्रयोग में लाने लगते हैं और उनका व्यवहार सरल होने के स्थान पर विकृत हो जाता है। माता पिता या तो बच्चों की इच्छाओं के आगे इतना झुक जाते हैं कि बालकों को अपनी त्रुटियों का आभास ही नहीं हो पाता, अथवा वह उनके साथ इतनी मनमानी करते हैं कि बालकों का उन पर से विश्वास उठ जाता है। बड़ों क प्रति कटु होकर कभी कभी वे यह भी कह उठते हैं, कह लीजिये जो आप के मन में है, आप बड़े जो हैं। कभी मैं भी तो बड़ा हूँगा, तब देखियेगा, इत्यादि। यह सुनकर माता-पिता बहुत दुखी होते हैं। वे बच्चों को कोसते हैं और बच्चों के अज्ञान पर खेद प्रगट करते हैं। निःसन्देह बच्चों के प्रति माता पिता के व्यवहार की प्रेरणा यथार्थ में बच्चों

की शुभकामना होती है, अपना स्वार्थ नहीं। उनकी कठोरता के पीछे ठीक वैसे ही भाव होते हैं जो डाक्टर की चीरफाड़ के पीछे होते हैं। किन्तु छोटे बालकों के लिये जो वस्तु स्पष्ट रहती है, वही वास्तविक होती है। वे अधिकतर क्रिया तथा उसके परिणाम से ही प्रभावित होते हैं, उनकी प्रेरणा तथा भाव आदि से नहीं, वह तो उनके ध्यान में ही नहीं आते। माता-पिता की शुभकामना तथा दुलार को यदि बालक नहीं समझ पाते तो उसका उत्तरदायित्व माता-पिता पर है, नन्हें बालकों पर नहीं। इसलिये माता-पिता को बालकों से यथासंभव मित्रता का ही व्यवहार करना चाहिये। बालकों में केवल इच्छाएँ ही नहीं अपनी आयु के अनुसार समझ भी होती है। यदि उन्हें यह समझा दिया जाय कि अमुक काम में क्या दोष है तो बच्चे स्वयं ही उसे छोड़ देंगे, जैसे सब का मन सूर्यग्रहण देखने को करता है। बच्चे कुतूहलवश इसमें विशेष रुचि रखते हैं। यदि उन्हें सूर्यग्रहण न देखने का आदेश दे दिया जाय तो वह माता पिता तथा अन्य बड़ों की आँख बचाकर उसे देखेंगे, परन्तु देखेंगे अवश्य। किन्तु यदि उन्हें यह समझा दिया जाय कि सूर्यग्रहण सीधे सीधे देखने से आँख नष्ट हो जाने का अंदेशा है, इससे व्यक्ति जीवनभर के लिये अन्धा हो जाता है, सूर्यग्रहण काले शीशे से पानी में देखा जा सकता है, ऐसे आदेश को बालक सहर्ष मान लेंगे। केवल इतना ही नहीं, वह आस पास अन्य बच्चों तक भी यह आदेश पहुँचा देंगे। उत्साहपूर्वक शीशे रँग कर. जहाँ तहाँ बालटी तसले आदि में पानी लेकर वे सूर्यग्रहण के प्रतिबिम्ब को उसमें देखेंगे। बच्चा बड़ों के कहने की अवहेलना तभी करता है जब उसे उनके कहने पर विश्वास नहीं होता, अर्थात् जब उसे बड़ों का आदेश मनमाना लगता है। विश्वास रहने पर बच्चा सब का सच्चा आज्ञाकारी रहता है।

जो माता-पिता बच्चों के हाथ बिके रहते हैं, बच्चे उन्हें अपनी इच्छाओं की पूर्ति का साधन मानने लगते हैं। इसके अतिरिक्त वह माता-पिता का कुछ अस्तित्व ही नहीं समझते। ऐसी स्थिति में पली एक बालिका रस्सी में टोकरी बाँधकर खींच रही थी। जिधर वह रस्सी घुमाये उधर ही वह टोकरी घूमे। यह देख वह अत्यन्त प्रसन्न हो किलकारी मार कहने लगी, "अम्माँ देखो टोकरी जिन्दा है—यह तो आदमी है आदमी"। माता अचम्भे से चौंक कर सहसा बोली, "क्यों, कैसे ?" बच्ची तुरन्त बोल उठी, "जिधर मैं चाहती हूँ उधर ही मेरे पीछे पीछे यह घूमती है। बड़ी मेज़ तो टस से मस भी नहीं होती"।

ऐसे वातावरण में पले बच्चे अपनी त्रुटियों को नहीं समझ पाते। वह माता-पिता का आदर करने के स्थान पर उन्हें अपनी इच्छापूर्ति का साधन समझने लगते हैं। उन्हें अपनी इच्छाएँ और चेष्टाएँ ही सबसे महत्त्वपूर्ण लगती हैं। कृतज्ञता के भाव उनमें जड़ नहीं पकड़ पाते। उनके स्वभाव तथा व्यवहार में स्वार्थ तथा लोभ इतना प्रधान हो जाता है कि अपनी इच्छाओं तथा आवश्यकताओं के आगे संसार के अन्य आदर्श तथा धर्म उन्हें तुच्छ और महत्वहीन दिखाई पड़ते हैं। वे स्वयं कर्तव्यविहीन किन्तु दूसरों की कर्तव्य-परायणता के पक्के समालोचक बने रहते हैं। दूसरों के व्यवहार पर टीका-टिप्पणी करना उनके व्यवहार का सहज अंग बन जाता है। इस प्रकार की कृतघ्नता आपसी मेल जोल के जीवन में बड़ी बाधा बन जाती है। फलस्वरूप उनका जीवन निराशा की एक दुखभरी कहानी बन जाता है। माता पिता का अत्यन्त लाड़ दुलार ही इन बच्चों के जीवन का शाप बन जाता है।



कुछ माता-पिता इतने अस्थिर-चित्त होते हैं कि वह यह निर्णय नहीं कर पाते कि बालकों के लिये क्या उचित है और क्या अनुचित। जिस बात से बच्चों को वे एक दिन मना करते हैं, उसी के प्रति दूसरे दिन उदासीन हो जाते हैं। ऐसे वातावरण में पले बच्चों के मन में सदा शंका-सी बनी रहती हैं। वह ज्ञात तथा अज्ञात रूप से उस समय की ताक में रहते हैं जिसमें उनकी माँगों के पूरे हो जाने की संभावना हो, किन्तु फिर भी आशंका उनके मन में बनी ही रहती है। माता-पिता के स्वभाव की यह अस्थिरता, उनके

इतनी खीझ क्यों ?
मिसेज़ ग्रिपमन के सौजन्य से

स्वभाव में व्यग्रता पैदा कर देती है। सरल उल्लास के स्थान पर उनके चेहरे पर खीझ, चिन्ता, भय, व्यग्रता, अनमनापन आदि के भाव आ जाते हैं—वह छोटी छोटी बातों में चिन्तित होने लगते हैं, यही नहीं, कुछ माता पिता के स्वभाव में दृढ़ता नहीं होती। वे यह जानते हुए भी कि अमुक काम बच्चे के लिये अनुचित या अहितकर है बच्चे के रोने पर विवश हो जाते हैं। बच्चे उनकी दुविधा का लाभ उठाते हैं। माता पिता की निर्बलता उनका बल हो जाती है। सड़क पर चलते हुए फैल जाना, मेहमानों के सामने तरह तरह की ज़िद करना, रो-रोकर घर भर को सिर पर उठाना इन बच्चों के लिये अपनी इच्छाओं की पूर्ति के साधन बन जाते हैं। ऐसे बच्चे केवल ज़िद्दी ही नहीं होते, वे बहुधा कठोर तथा हृदयहीन भी हो जाते हैं। सहानुभूति जैसा सहज गुण उनमें अंकुर नहीं पकड़ पाता। वह समाज में अपना स्थान नहीं बना पाते। उनका साथ न बच्चों को भाता है और न बड़ों को ही।

जहाँ माता-पिता में परस्पर झगड़ा रहता है उस परिवार के बच्चों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो जाती है। उन्हें सत्-असत् अथवा उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं हो पाता। वह कभी माता के प्रति कटु हो जाते हैं और कभी पिता के। इसमें सन्देह नहीं कि वे माता-पिता को प्यार अवश्य करते हैं, परन्तु उनका आदर नहीं कर पाते। कलह में पले बच्चे तरह-तरह के मानसिक विकार के शिकार हो जाते हैं। यद्यपि ऐसी परिस्थिति में बच्चे माता-पिता के जीवन को अपना आदर्श नहीं बना पाते, तो भी वे अनजाने में ही उनके व्यवहार का अनुकरण अवश्य करते हैं। इसलिये जिन घरों में माता पिता शिष्ट नहीं होते, बुज़ुर्गों का आदर नहीं होता; माँ सदा दादी से लड़ती रहती है, और पिता अपनी मनमानी करते दिखाई देते हैं, वहाँ बच्चे भी माता पिता का आदर नहीं करते। बाल्यकाल में भय और ममता के कारण वे माता-पिता का साथ अवश्य देते हैं, परन्तु बड़े होते ही उनका व्यवहार बदल जाता है। वे माता पिता के प्रति इतने कटु हो जाते हैं, और उनका व्यवहार उनके प्रति इतना भद्दा हो जाता है कि ऐसा प्रतीत होता है कि मानों वे उनसे पिछले जन्म के कुछ बदले चुका रहे हैं। माता पिता दुखी होकर अपने भाग्य को कोसते हैं, परन्तु वे यह नहीं जानते कि बच्चों ने यह सब उन्हीं से सीखा है। बच्चों का यह दोषपूर्ण व्यवहार उनकी शिक्षा-दीक्षा का ही फल है। भय से पैदा की गयी शिष्टता भय के दूर होते ही मिट जाती है। जो बालक भय के प्रयोग से शिष्ट बनाया जाता है, वह भय की परिस्थिति से बाहर निकलते ही कटुता के साथ अशिष्ट हो जाता है।

इसलिये यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि बालक में मानसिक विकार जन्मजात नहीं होते । वह तो प्रतिकूल वातावरण की देन है । बालक के चरित्र तथा आचार-व्यवहार पर वातावरण और विशेषकर निकट-परिवेश का प्रभाव गंभीर रहता है । इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि जिन गुणों को माता-पिता बच्चे में देखना चाहें, उन्हें वे स्वयं भी अपनाएँ । इसके अतिरिक्त वे बालक के साथ सहानुभूति तथा मित्रता का नाता रखें, जिससे उनमें परस्पर विश्वास बना रहे । माता-पिता के व्यवहार में दृढ़ता अवश्य होनी चाहिये, परन्तु कठोरता व अस्थिरता नहीं । बच्चा भूल अवश्य करता है, और बार बार भूल करता है, परन्तु भूल कौन नहीं करता ? बालक में वह मानसिक तीव्रता नहीं पाई जाती जो प्रौढ़ व्यक्ति में होती है । उनके अनुभव भी बहुत कुछ सीमित होते हैं जिसके कारण उनमें दूरदर्शिता का अभाव रहता है । इसलिये बालक को भूल से रोकने के लिये सहानुभूति तथा सहनशीलता से समझाना बुझाना ही एक उचित उपाय है ।

अध्याय ६

झूठ

बच्चे बहुधा झूठ बोला करते हैं, कम से कम देखने सुनने वाले को ऐसा ही लगता है; फिर भी उनकी झूठी बातें बड़ों को अप्रसन्न नहीं करतीं, प्रत्युत उनके मनोरंजन का कारण बनती हैं। 'झूठा कहीं का' कहकर उनकी ऐसी बातों को यूँही टाल दिया जाता है। ऐसे झूठ बालकों के मनबहलाव का साधन माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त उनको कुछ महत्व नहीं दिया जाता। परन्तु इसी प्रकार का कोई झूठ यदि माता पिता या किसी अन्य प्रौढ़ व्यक्ति के हित के विरुद्ध सिद्ध होता है तो माता-पिता बालक को झूठा मानकर उस पर क्रुद्ध होते हैं, और कभी कभी उसकी मार-पिटाई तक हो जाती है। अपने हित तथा अहित की कसौटी पर बच्चे के सत्य व झूठ की परख नहीं की जा सकती। बच्चा सच बोल रहा है या झूठ, इसकी परख के लिये बच्चे के कथन की भावना को जानना आवश्यक होता है, अर्थात् सत्य व झूठ की पहचान के लिये यह इतना महत्वपूर्ण नहीं कि बच्चा क्या कह रहा है, जितना कि वह 'क्यों कह रहा है'।

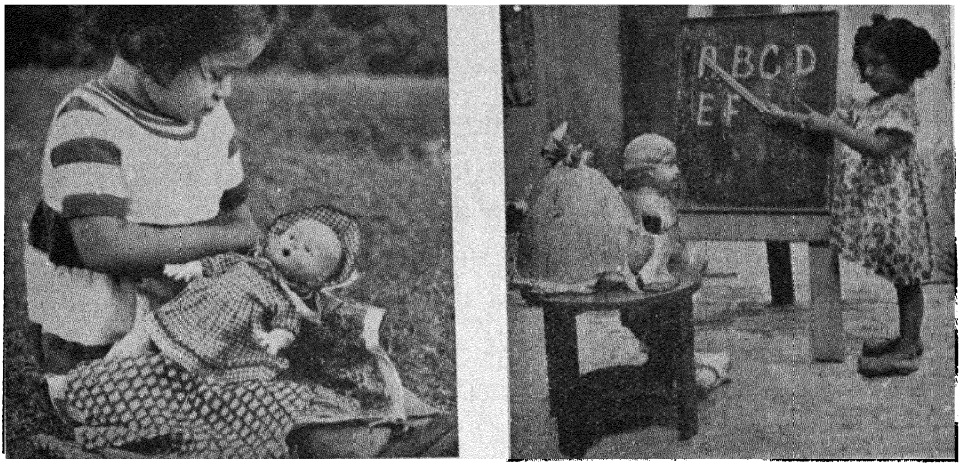
बच्चे के बहुत से झूठ, जिन्हें प्रायः झूठ समझा जाता है, वास्तव में झूठ नहीं होते। वह तो केवल बालक की कल्पना का स्वरूप होते हैं। अनुभवों के अभाव के कारण बालक को वास्तविक और काल्पनिक के भेद का ज्ञान नहीं होता। वह जिस वस्तु की कल्पना करते हैं, उसे प्रामाणिक मानकर उसका वर्णन करने लगते हैं। काल्पनिक कहानियाँ बालक के लिये उतनी ही वास्तविक होती हैं जितना कि रोटी खाना व कपड़े पहनना। उदाहरणार्थ, एक बच्चे की कल्पना को लीजिये जो कमरे में खेलते-खेलते मेज़ पर चढ़ जाता है। मेज़ पर चढ़ते ही वह घोड़े की सवारी का आनन्द लेने लगता है। इस आनन्द में वह इतना लीन हो जाता है कि उसे अपनी व आस पास की सुधि ही नहीं रहती। घोड़े को तेज़ी से चलाने के लिये वह इतने हाथ पैर चलाने लगता है कि कुछ ही समय में वह स्वयं भी मेज़ के साथ, मुँह के बल, नीचे गिर पड़ता है। ऐसी दशा में थोड़ी-बहुत चोट आ जाना स्वाभाविक ही है, परन्तु इसकी न उसे चिन्ता होती है, और न इससे उसकी कल्पना ही टूटती है। किन्तु घोड़े की टाँग टूट जाने का उसे बहुत खेद होता है। वह अपने घोड़े

को टूटी टाँग की पीड़ा से बचाने के लिये बहन के दुपट्टे को फाड़कर, और रसोई-घर से गूंधा आटा उठाकर उसकी मरहम पट्टी करने लगता है।

उपर्युक्त घटना के प्रति माँ और बहन दोनों की मानसिक प्रतिक्रिया एक दूसरे से बहुत भिन्न थी। माँ दुपट्टे के यों फट जाने के कारण अत्यन्त खिन्न थी जबकि बहन हँसते-हँसते लोट पोट थी, अर्थात् जो खेल माँ की दृष्टि में दोषपूर्ण व्यवहार था, बहन की दृष्टि में केवल मनोरंजन था। परन्तु यही बच्चा यदि बहन की किसी आवश्यक व प्रिय वस्तु को पीठ के पीछे रख कर 'गुम हो गयी' कहने लगे तो बहन के क्रुद्ध हो जाने की भी बहुत संभावना है। वह भी झूठा आदि कह कर उस पर बिगड़ सकती है। परन्तु थोड़ा सा भी सोचने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह भी बालक की वैसी ही कल्पना है जैसी कि घोड़े की सवारी।

अधिकतर व्यक्ति बालक के सहज स्वभाव से अपरिचित होने के कारण अपने हित और अहित के आधार पर बच्चे के सत्य व झूठ का निर्णय किया करते हैं, परन्तु ऐसा करना केवल बच्चे के साथ ही नहीं अपने साथ भी अन्याय है। बच्चे को झूठा समझते ही माता पिता का मन अत्यन्त खिन्न रहने लगता है। वह बालक पर बार बार बिगड़ते हैं, जिससे बालक तथा माता-पिता में विश्वास के स्थान पर कटुता आ जाती है।

बालक हर समय कल्पना की दुनिया बनाता रहता है। या यूँ कहिये कि वह अधिकतर कल्पना के ही संसार में रहता है। कल्पना उसकी अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति का एक मुख्य साधन है। बालक में बहुत सी नैसर्गिक इच्छाएँ होती हैं, जिन्हें वातावरण के संपर्क से उत्तेजना मिलती है। परन्तु बालक की मानसिक अथवा शारीरिक क्षमता इतनी सीमित होती है कि वह अपनी इच्छाओं को व्यावहारिक रूप से तृप्त नहीं कर पाते। यह अतृप्त इच्छाएं उन्हें क्रियाशील किये रहती हैं, जैसे कुतूहलवश बालक सब कुछ जानना चाहते हैं, आस-पास की प्रत्येक स्थिति को समझना चाहते हैं। उनकी रचनात्मक-वृत्ति उन्हें नित्य नयी स्थितियाँ रचने को प्रेरित करती रहती हैं, वे रेत में छोटे छोटे घर बनाते हैं, उन्हें तरह तरह से सजाते है, तथा उनमें फूल-पत्ते लगाकर अपनी रचनात्मक-वृत्ति का सुन्दर परिचय देते हैं। इसी प्रकार उनमें अर्जन की प्रवृत्ति भी प्रबल होती है, वह आस-पास की सब वस्तुओं को संग्रह कर उन पर अपना अधिकार चाहते हैं, माता पिता की भाँति स्वच्छंदतानुसार रुपया पैसा व्यय करना चाहते हैं, परन्तु अधिकतर वस्तुएँ उनकी पहुँच के बाहर होती हैं। इच्छा के प्रबल रहने पर भी वह उन्हें पाने में असमर्थ होते हैं। गुड़ियों के कपड़े-लत्ते, उनके



माँ जीवन प्रभात शिक्षिका

काँच ताँबे के आभूषण, तथा सरकंडों की चारपाईयाँ आदि को इकट्ठा कर वे अपनी संग्रह-वृत्ति को तृप्त करते हैं।

बच्चों के खेलों से यह भी स्पष्ट होता है कि उन्हें अपने विशिष्ट अस्तित्व का विशेष ज्ञान नहीं होता। वह जिस प्राणी को स्नेह करते हैं, अपने को उससे इतना मिलाते हैं कि स्वयं वही बन बैठते हैं। बच्चों को माता-पिता या किसी अन्य प्रिय जन का रूप धारण किये किसने नहीं देखा होगा ! वे इन खेलों में अपने प्रिय पात्र की केवल नकल ही नहीं करते, बल्कि अपने आपको वही समझने लगते हैं। वह उनकी तरह उठते बैठते हैं, बातचीत करते हैं, तथा सोचते विचारते हैं, या यूँ कहिये कि उस समय उनके और उनके प्रिय पात्र के बीच की दूरी बिलकुल मिट जाती है। वह स्वयं अपने प्रिय पात्र बन जाते हैं। उस समय वह बहुत सी ऐसी बातें करते हैं जो सुननेवालों को बे-सिर पैर की लगती हैं, जैसे पिता यदि शिकारी है तो बच्चा भी मित्रों तथा अन्य व्यक्तियों से अपने शेर मारने के क़िस्से सुनाता है, और वह भी इस दृढ़ता और विश्वास के साथ कि सुननेवाले उसे पक्का झूठा कहे बिना रुक नहीं सकते। परन्तु बालक झूठा नहीं होता। वह तो केवल अपने अनुभव का वर्णन करता है जो काल्पनिक होने पर भी उसके लिये व्यावहारिक रूप से वास्तविक है। अनुभवों के अभाव के कारण उसको काल्पनिक और वास्तविक के अन्तर का ज्ञान नहीं होता। इसके अतिरिक्त सहानुभूति तथा समानता के भावों के कारण वह अपने तथा दूसरे के अनुभवों में भेद नहीं कर पाता। इन क्रियाओं तथा अनुभूतियों द्वारा उसके चरित्र तथा स्वभाव की नींव पड़ती है। चरित्र निर्माण में सहानुभूति का महत्वपूर्ण स्थान है। इसीलिये बालक

का वातावरण उन व्यक्तियों से परिपूर्ण होना चाहिये जिनसे सहानुभूति तथा समानता का सहारा पाकर वह अपने स्वभाव और चरित्र में सच्चाई और दृढ़ता ला सके।

बच्चे का समाज बड़ों की अपेक्षा बहुत कुछ सीमित होता है, जिससे उसका प्रभाव उसके चरित्र पर गंभीर पड़ता है। उसके चरित्र तथा स्वभाव पर माता-पिता या अन्य संबंधियों का ही प्रभाव नहीं होता, उसके संगी-साथी, स्कूल तथा खेल आदि सब ही अपनी-अपनी छाप लगाते हैं। परन्तु बच्चों के चरित्र-निर्माण में सबसे गंभीर प्रभाव उन व्यक्तियों का होता है जिनके प्रति उसके मन में विशेष स्नेह तथा आदर होता है। इसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसकी सहानुभूति के सब पात्र वास्तविक ही हों। काल्पनिक व्यक्ति, जैसे किस्से कहानियों के पात्र भी बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। कल्पना के बाहुल्य के कारण वह अपने को उनसे मिलाता है, तथा अनजाने में ही उनके गुण ग्रहण करता रहता है।

कल्पना की यह अवस्था स्थायी नहीं होती। ज्यों-ज्यों बालक के अनुभव बढ़ते हैं, उसे काल्पनिक तथा वास्तविक के अन्तर का भी ज्ञान होने लगता है। बालक के वह झूठ जो वास्तव में उसकी कल्पना के स्वरूप हैं, झूठ नहीं कहे जा सकते। ऐसे झूठ के संबंध में माता-पिता को किसी प्रकार की आशंका नहीं होनी चाहिये। अनुभवों के आधार पर वह अपने आप ही दूर हो जाते हैं।

झूठा बालक तो यथार्थ में वह है जो सत्य को समझता हुआ भी, अपने लाभ के लिये दूसरे को धोखा देता है। बालक ऐसे झूठ बहुधा अपने को असफलता की वेदना अथवा उपहास की पीड़ा से बचाने के लिये बोला करते हैं। ऐसे झूठ निःसन्देह शोकजनक हैं, जिनसे बालक को बचाये रखने का उत्तरदायित्व माता-पिता का है। झूठ बोलने की आदत किसी अन्य बात पर इतनी निर्भर नहीं करती जितनी कि वह सहानुभूति के अभाव और निराशा पर। मनुष्य स्वभाव से ही सफलता और प्रशंसा चाहता है, इसीलिये निराशा से पीड़ित बच्चा अपने को उपहास से बचाने के लिये झूठ की आड़ लेने लगता है, विशेषकर उस वातावरण में पला बच्चा, जिसमें अपनी धाक जमाने के लिये बड़ी सफाई के साथ झूठ बोले जाते हैं। धीरे-धीरे बच्चे में झूठ की आदत पक्की हो जाती है। वह बात-बात पर झूठ बोलने लगता है। बच्चे की झूठ की आदत को दूर करने के लिये उसके वातावरण को बदलना आवश्यक है। परन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि बालक को घर से बाहर किसी होस्टल आदि में भेज दिया जाय, बल्कि यह कि उसके वातावरण के निर्माता अर्थात् माता-पिता तथा

अन्य निकट व्यक्ति बालक के प्रति अपने व्यवहार को बदलें, उसे समझने का प्रयत्न करें, तथा उसके अस्तित्व का आदर कर, उसे ऐसे कार्य में प्रोत्साहित करें जो उसकी योग्यता के अनुकूल हों।

कभी-कभी असफलता व उपहास के भय से बचने के लिये तीव्र-बुद्धि बालक भी झूठ बोलने लगता है, परन्तु यह प्रायः वहीं होता है जहाँ बालक के प्रति सहानुभूति अथवा अभाव पाया जाता है। बहुत से माता-पिता बालक की सहज त्रुटियों को नहीं समझते; उसे वे अपने पैमाने से नापने लगते हैं। जब बालक उस पर ठीक नहीं उतरता तो उस पर बिगड़ते और रोष प्रगट करते हैं। धीरे-धीरे बालक का माता-पिता से विश्वास उठ जाता है, वह उन्हें चिढ़ाने तथा धोखा देने के लिये झूठ बोलने लगता है। माता-पिता की सहानुभूति तथा सहयोग के मिलते ही ऐसे बालक अपने स्वाभाविक पथ अर्थात् सच की सीधी राह पर लौट आते हैं।

जैसे सच बोलना बालक के लिये स्वाभाविक है, ठीक उसी प्रकार स्नेह और ममता उसके जीवन का आधार है। प्रेम और प्रशंसा के प्रलोभन से तथा अपने प्रिय पात्र को प्रसन्न करने के भाव से, बालक कभी-कभी जानबूझ कर झूठ बोलता है। यही कारण है कि बालक झूठ अधिकतर उनसे बोलते हैं, जिन्हें वे अपना समझते हैं, अर्थात् जिन्हें वे प्रेम करते हैं तथा आदर की दृष्टि से देखते हैं। कारण स्पष्ट है। व्यक्ति जिसे प्यार करता है उसे सदा प्रसन्न रखना चाहता है, उसका रोष उसके लिये बहुत-कुछ असहनीय हो जाता है। इसलिये सहसा भूल व त्रुटि हो जाने पर बालक उसे अपने प्रियजनों से छिपाने के भाव से झूठ की आड़ लेते हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण इस बात से मिलता है कि वे जनसाधारण से झूठ नहीं बोलते—अपने प्रियजनों को छोड़कर अन्य सबसे बेधड़क सच बोलते हैं, भले ही वह सच कितना ही अप्रिय व उनके अपने हित के विरुद्ध क्यों न हो।

कभी कभी बालक में सच बोलने की आदत डालने के भाव से माता-पिता उनसे ऐसा कड़ा व्यवहार करते हैं कि वह सच के सहज पथ से डगमगा जाता है। बालक अपनी भूल को छिपाने के लिये कभी कभी ममतावश माता-पिता से झूठ बोलता है, परन्तु नादान बालक का झूठ थोड़े ही समय में खुल जाता है। झूठ के खुलते ही अथवा सच्चाई के पता लगते ही माता-पिता बालक पर इतना बिगड़ते हैं तथा उसे इतनी कड़ी सज़ा देते हैं कि उसे 'झूठ बोलने' के स्थान पर 'झूठ के खुल जाने' का दुःख होता है।

एक दो ऐसे अनुभवों के पश्चात् वह चौकन्ना हो जाता है। उसके बाद वह बहुत सोच-विचार कर, संगी साथियों को अपने साथ मिलाकर झूठ बोलता है। धीरे धीरे वह झूठ बोलने में अभ्यस्त हो जाता है। परन्तु इस प्रकार क्रोधित होने के स्थान पर यदि बालक को समझा बुझा दिया जाय, उसकी भूल पर खेद प्रगट करते हुए उसे साधारण ही माना जाय, तो बालक में झूठ की आदत पड़ने की बहुत ही कम संभावना है। इसके यह अर्थ नहीं कि झूठ की आदत दूर करने के लिये सज़ा कभी दी ही नहीं जा सकती। बच्चों को सज़ा दी जाती है, और वह बहुत बार, परन्तु बालक को इस बात का विश्वास रहना चाहिये कि सज़ा देनेवाले के मन में केवल उसका हित और प्यार ही प्राथमिक है, अपनी झूठी मर्यादा व कोरा बड़प्पन नहीं। साथ में यह भी विश्वास रहना चाहिये कि जिस दोष के लिये उसे सज़ा दी जा रही है, उस दोष से सज़ा देनेवाला स्वयं मुक्त है, नहीं तो बड़ों का यह व्यवहार बालक को अपने झूठ से कहीं अधिक दोषपूर्ण दिखाई पड़ता है। परिणामस्वरूप वह अपने दोष को त्यागने के स्थान पर, बड़ों के प्रति कटु हो जाता है। इसलिये यह कहना अनुचित नहीं होगा कि बच्चे के इस दोष का उत्तरदायित्व बालक से कहीं अधिक माता-पिता तथा अन्य संबंधियों का है जो बालक की सहज प्रवृत्ति, रुचि और क्षमता को समझने के स्थान पर उसके लिये कुछ मनमाने नियम बना लेते हैं, जिन्हें बालक अपनी सीमित शारीरिक एवं मानसिक क्षमता के कारण पूरा नहीं कर पाते। बुरी आदतें जो बुरे वातावरण के कारण पड़ जाती हैं, वातावरण के बदलते ही स्वतः दूर हो जाती हैं।

जिस बालक में झूठ की आदत पड़ गई हो उसकी इस आदत को छुड़ा देना ही पर्याप्त नहीं होता, साथ ही उसमें सच की आदत को पक्का करना भी आवश्यक हो जाता है। इसके लिये उसे ऐसा वातावरण मिलना चाहिये जिसमें उसे सच बोलने के बहुत से अवकाश मिल सकें, अर्थात् उसके वातावरण में ऐसी स्थितियाँ व समस्याएँ पैदा करनी चाहिये जिन्हें वह आत्मविश्वास के साथ सुलझा सके। इससे उसे सच बोलने में प्रोत्साहन मिलता है, तथा धीरे धीरे उसमें सच की आदत पक्की हो जाती है।

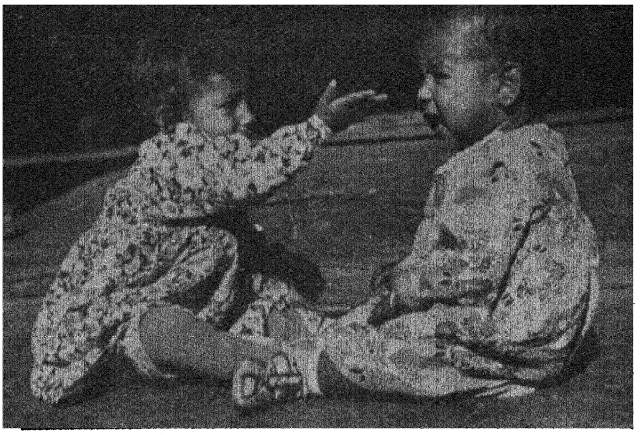
अध्याय ७

हठ

बालक अपनी प्रसन्नचित मनोवृत्ति तथा स्वभाव की सरलता के कारण अपने को सर्वप्रिय बना लेते हैं। उनके चेहरे की मुद्राएँ अनुपम तथा उनके खेल अत्यन्त सुखद होते हैं। उनके काल्पनिक खेल केवल उनके मनोरंजन का साधन ही नहीं होते, वह आसपास अन्य सब के मन को भी मुग्ध करते हैं। माता-पिता उनके मनगढ़ंत क़िस्से कहानियों का बार बार वर्णन करते हैं, तथा उनकी अन्य छोटी-मोटी घटनाओं को मुग्ध मन से सुनते हैं और सुनाते हैं। अपनी क्रियाओं से सबको आनन्द-विभोर रखना बालक के व्यवहार का सहज अंग है। बालक अपने व्यवहार की प्रतिक्रिया को भी अव्यक्त रूप से सोचता और समझता है। दूसरों के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित पाकर वह स्वयं भी आनन्द-विभोर होता है। इससे उसके प्यार पाने की इच्छा तृप्त होती है।

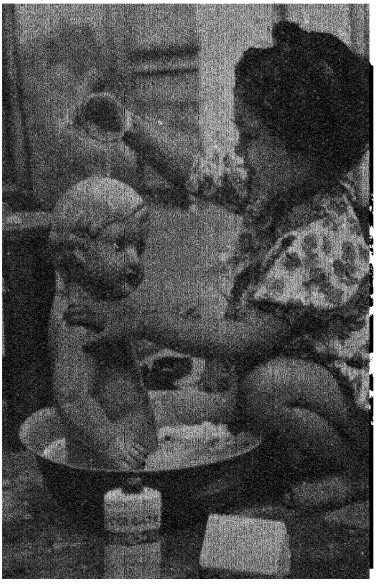
साधारणत: सब के ध्यान को अपने पर केन्द्रित करने के लिये बालक उन क्रियाओं को बार बार दोहराते हैं, जिनसे माता-पिता तथा अन्य संबंधियों को प्रसन्नता होती है। उनकी मोह ममता को अपनाने के लिये वह उनका अनुकरण करते हैं, तथा अनजाने में ही अपने व्यवहार को उनकी इच्छाओं व रुचियों के अनुकूल बना लेते हैं।

इसलिये हठ आदि से माता-पिता को दुखी करना बालक के लिये बहुत अस्वाभाविक तथा उसके सहज व्यवहार के प्रतिकूल है। बार बार की ज़िद उसे एक प्रकार से असहनीय बना देती है। हठी बालक का साथ किसी को नहीं भाता। उसके अकारण रोने का उपहास अन्य बालक भी किया करते हैं। ऐसे बालक की ओर से दूसरों का मन खिचने लगता है। वह मन ही मन उसकी उपस्थिति के स्थान पर उसकी अनुपस्थिति चाहने लगते हैं, ज़िद से दुखी होकर माता-पिता बालक को कोसते है, तथा बार बार खेद प्रगट करते हैं। परन्तु कभी कभी यह खेद बालक की उन साधारण क्रियाओं पर भी प्रकट किया जाता है, जो यथार्थ में बालक के मनबहलाव का साधन होती हैं। चूंकि बालक में कल्पना अधिक और वास्तविकता का ज्ञान बहुत कम होता है, इसलिये कभी कभी वह उन क्रियाओं में जुट जाते हैं जो बड़ों के आराम व काम में बाधक बन जाते हैं। चूंकि उन क्रियाओं द्वारा बालक स्वयं प्रसन्न होते हैं,



हत् तेरे की, रोता है

इसलिये उन्हें यह अनुमान नहीं होता कि वह क्रियाएँ अन्य व्यक्तियों के लिये असुविधाजनक हो सकती हैं। फलतः माता-पिता के बार बार रोकने पर भी बालक उनमें लगे ही रहते हैं, जैसे पतंग उड़ाना, गुड़िया के शृंगार में उपयोगी वस्तुओं को बरबाद करना, पेड़ पर से कूदना-फाँदना, बिस्तरों पर कलाबाजियाँ खाना आदि। इसी प्रकार कभी कभी बालक ऐसे खेलों में भी जुट जाते हैं जिन्हें प्रौढ़ व्यक्ति समय नष्ट करना ही समझते हैं, जैसे माता जब खाना पकाने बैठती है तो बालक आटे के मोर व चिड़ियाँ बनाने लगते हैं, खाना स्वयं पकाने का हठ करते हैं, सब्जियाँ स्वयं काटना चाहते हैं। इन सब खेलों में समय इतना व्यय होता है कि माता उन्हें रोके बिना रह नहीं सकती, किन्तु बालक माता के कहने सुनने की ओर ध्यान ही नहीं देते। माता रोष प्रकट करती है किन्तु बालकों के लिये माता की अप्रसन्नता से खेल कहीं अधिक सुन्दर और मनोरंजक होता है। ऐसी परिस्थिति में बालक को ज़िद्दी या हठी समझकर माता कभी कभी पीट भी देती हैं, किन्तु ऐसे व्यवहार से बालक के मन में माता के प्रति अप्रिय भाव पैदा होते हैं, जबकि खेल की इच्छा ज्यों की त्यों ही बनी रहती है। इसलिये बच्चों को यदि इन कामों से रोकना आवश्यक ही हो जाय तो उनके ध्यान को किसी अन्य विषय में लगा देना ही अधिक उपयोगी सिद्ध होता है, अथवा कुछ समय के लिये उनके खेल में सहयोग देकर उन्हें समय के अभाव का बोध भी कराया जा सकता है, जिससे बच्चा स्वयं ही उस काम को छोड़ देता है।



अस्वस्थ बालक के व्यवहार में भी हठ या ज़िद के लक्षण आ जाते हैं। वह चिड़चिड़ा होकर अपनी माँग को बार बार दोहराता है, तथा घर भर को परेशान किये रहता है। व्यक्ति की मनःस्थिति उसकी पाचन-क्रिया तथा ग्रन्थियों के रासायनिक पदार्थों के संतुलन पर निर्भर करती है। अस्वस्थ व्यक्ति साधारणतः पित्त-वृत्ति अथवा वात-वृत्ति के हो जाते हैं। उनमें अकारण ही क्रोध उत्तेजित होने लगता है और वे छोटी छोटी बात पर रो देते हैं। परन्तु जैसे जैसे वह स्वस्थ होते हैं, उनकी मनोवृत्ति भी बदल जाती है।

अस्वस्थ बालक शारीरिक थकान व निर्बलता के कारण सामूहिक खेल में ठीक प्रकार से भाग न ले सकने के कारण अपने साथियों से बहुधा अलग रह जाते हैं, जिससे उनकी आपसी मेल-जोल की नैसर्गिक इच्छा बहुत कुछ अतृप्त रह जाती है। एकाकीपन से उनका मन ऊब जाता है, जिसे वह ज़िद अथवा हठ के रूप में व्यक्त करते हैं।

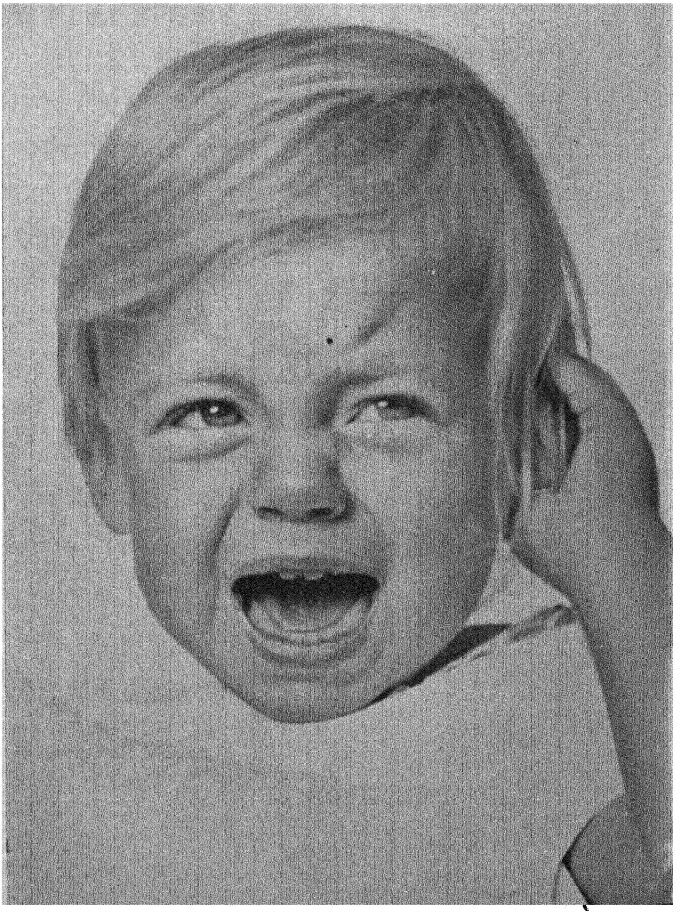
यद्यपि प्रत्येक अस्वस्थ बालक ज़िद्दी व तंग करनेवाला नहीं हो जाता, किन्तु जब तक वह स्वस्थ नहीं होता वह प्रसन्नचित्त भी नहीं रह पाता। इसलिये बालक जब अकारण ही उदास व हठी हो जाय, तो उसकी शारीरिक परीक्षा करा लेनी चाहिये।

ज़िद्दी बालक तो यथार्थ में वे हैं जो अपनी इच्छापूर्ति के लिये जानबूझ कर दूसरों के कहने सुनने की अवहेलना करते हैं। माता पिता की अप्रसन्नता उन्हें दुखी नहीं करती, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि वे केवल वही कार्य उत्साहपूर्वक कर सकते हैं जिनमें माता पिता के कहने सुनने की विशेष अवहेलना होती है। ऐसे बालक घर की उपयोगी वस्तुओं को तोड़ते-फोड़ते हैं, रुपये पैसों को जहाँ तहाँ बिखेरते हैं और कुछ ऐसे अन्य काम करते हैं जिनसे दुखी होकर माता-पिता खेद प्रगट करते हैं। वे बच्चों को कोसते हैं, तथा कभी-कभी उन्हें पीट भी बैठते हैं, परन्तु बालक शारीरिक कष्ट की अवहेलना करते हुए अपनी ज़िद से नहीं हटते। इससे स्पष्ट है कि यह क्रियाएँ वास्तव में उनकी किसी ऐसी विशेष इच्छापूर्ति का साधन है जिसके सामने शारीरिक कष्ट भी विशेष महत्व नहीं रखता।

अपनी इच्छाओं की पूर्ति इन बालकों के लिये इतनी प्राथमिक हो जाती है कि उनके लिये वे सब प्रकार के साधन प्रयोग में लाने को तत्पर रहते हैं। रो-धो कर और एक ही बात को बारम्बार दोहरा कर वे माता-पिता को अपनी ऐसी बात मानने को बाध्य करते हैं जिन्हें माता-पिता अनुचित समझते हैं। जैसे, कुछ बालक माता-पिता के साथ बाहर जाने की ज़िद करते हैं और मना करने पर ज़ोर-ज़ोर से रोते-चिल्लाते हैं। उनके रोने-चिल्लाने से हताश होकर माता-पिता उनकी माँग को अनुचित और असुविधाजनक समझते हुए भी

उन्हें साथ बाहर ले जाने पर बाध्य हो जाते हैं। इसी प्रकार कुछ बालक माता पिता से उन वस्तुओं के लिये ज़िद करते हैं जो उनकी आर्थिक सामर्थ्य से बाहर होती हैं अथवा जिन्हें वे बालक के योग्य नहीं समझते। माता पिता की थोड़ी-सी आनाकानी पर वे दुकानों के सामने फैल जाते हैं, रोते चिल्लाते हैं, हाथ पैर मारते हैं, तथा अपने व्यवहार से माता पिता को अत्यन्त लज्जित करते हैं। ऐसी दुविधा से किसी प्रकार बच निकलने के लिये माता पिता उनकी उस माँग को पूरा करते हैं, तथा उन्हें उनकी मनचाही वस्तु ख़रीद देते हैं। माता पिता यों वस्तु ख़रीद कर अपने संकट का अन्त करना चाहते हैं, किन्तु यथार्थ में यह उसका श्रीगणेश होता है। बच्चा अपने रोने-धोने के प्रभाव को समझ जाता है तथा इस विधि को बार बार प्रयोग में लाने लगता है।

ज़िद्दी बालक प्रायः वह होते हैं, जो विशेष लाड़-दुलार से पाले जाते है, आरंभ में जिनकी प्रत्येक माँग माता-पिता तथा अन्य संबंधियों के लिये अनिवार्य होती है, जैसे इकलौता बालक, बहुत बहनों का अकेला भाई, बहुत भाइयों की लाड़ली बहन। इनकी उचित व अनुचित माँगों को पूरा करने में इनके लालन-पालन की विशेषता पाई जाती है। इनके तनिक से रोने पर माता पिता तथा बहन भाई घबरा जाते हैं, इनकी प्रत्येक माँग को, चाहे वह कितनी भी अनुचित क्यों न हो, पूरा करने की यथा-संभव चेष्टा की जाती है।



इतनी ज़िद!
मिसेज़ ग्रिपमन के सौजन्य से

अपने स्वभाव की निर्बलता को मोह-विवशता कह कर माता पिता उनके हठ को पूरा करते हैं। उनकी छोटी-छोटी बातों पर हर्ष प्रगट किया जाता है, यहाँ तक कि उनकी अनुचित क्रियाओं को भी इतने महत्वपूर्ण ढंग से वर्णन किया जाता है मानों कि उनका अनुचित होना ही उनकी विशेष सुन्दरता है।

इस प्रकार के लाड़-दुलार में पले बालकों को समाज केवल अपनी इच्छाओं की पूर्ति का साधन प्रतीत होने लगता है। वह अपने अतिरिक्त किसी के अस्तित्व को नहीं पहचानते। अन्य लोगों को वे केवल अपनी इच्छाओं की पूर्ति का माध्यम मानने लगते हैं। उनकी माँगें जब बहुत असाध्य और अनुचित हो जाती हैं, तो माता पिता को बरबस उन्हें रोकना पड़ता है। किन्तु जिस बालक ने शैशव से अपने अतिरिक्त किसी का आदर करना सीखा ही नहीं वह माता पिता की अवहेलना करता है। चूँकि वह अपने रोने-धोने के प्रभाव को जानता और समझता है, इसलिये वह रो रो कर माता पिता को बेबस कर देता है। धीरे धीरे उस में ज़िद की आदत पक्की हो जाती है।

इसके अतिरिक्त रोने तथा ज़िद की आदत उन बालकों को भी पड़ जाती है जिनकी साधारण माँगें सहज भाव से पूरी नहीं की जातीं। माता पिता अकारण ही उनकी सहज इच्छाओं की राह में बाधा पैदा करते हैं। इस प्रकार के मनमाने व्यवहार से दुखी होकर बालक जब रोने लगते हैं तो माता पिता उन्हें उस काम की अनुमति दे देते हैं जिससे कुछ क्षण पहले उन्हें रोका था। ऐसे कुछ अनुभवों के पश्चात् वे अपनी प्रत्येक माँग को पूरा करने के लिये रोने तथा तरह तरह का हठ करने लगते हैं।

ज़िद्दी बालक प्रायः वहीं हठ करते हैं जहाँ वे हठ के द्वारा अपने रास्ते की रुकावटों को सफलतापूर्वक दूर कर सकते हैं, अर्थात् जहाँ वे अपनी ज़िद से दूसरों को हताश कर सकते हैं। जिस वातावरण में साधारण माँगों को सहज भाव से पूरा किया जाता है, किन्तु प्रत्येक अनुचित माँग दृढ़तापूर्वक रोकी जाती है, वहाँ यही बालक सुशील तथा आज्ञाकारी बन जाते हैं। वातावरण के बदलते ही इनके स्वभाव में इतना परिवर्तन आ जाता है कि वे पहचान में नहीं आते। ऐसा प्रतीत होता है कि वे कोई दूसरे ही बालक हों।

इस लिये बालक को इस विकृति से बचाये रखने के लिये उसके वातावरण का अनुकूल होना अत्यन्त आवश्यक है। वातावरण को बालक के अनुकूल रखने के लिये माता-पिता को बालकों के सहज स्वभाव का पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिये, ताकि वे

उनकी सहज रुचियों तथा इच्छाओं को समझ सकें, तथा उनकी पूर्ति में बालकों का सहयोग दे सकें। जहाँ माता-पिता बालक की सहज माँग को अकारण ठुकरा देते हैं, अपनी तनिक सी असुविधा के कारण उसको सहयोग नहीं देते, वहाँ बालक माता-पिता के कहने-सुनने की अवहेलना करने लगता है, वह ज़िद आदि दोषों को अपनाता है क्योंकि वे उसकी इच्छाओं की पूर्ति का साधन बन जाते हैं।

माता-पिता के व्यवहार में सहानुभूति के साथ दृढ़ता का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। अपने अज्ञान के कारण बालक बहुत बार ऐसी असुविधाजनक व अनुचित माँगें भी करते हैं जिन्हें दृढ़तापूर्वक रोकना ही उचित होता है। यदि स्नेह तथा सहानुभूति से बालक को अपनी भूल का आभास हो जाता है तो बहुधा वह स्वयं ही अपनी माँग को छोड़ देता है; परन्तु जब समझ-बूझकर भी बालक अपने हठ पर अड़ा रहता है, तो माता पिता को विचलित होने के स्थान पर दृढ़ता से काम लेना चाहिये; बालक के रोने चिल्लाने से विवश होकर उसकी माँग को पूरा करने के स्थान पर उसे दृढ़तापूर्वक रोकना ही उचित है। किन्तु इस दृढ़ता के साथ माता-पिता के व्यवहार में सदा ऐसी सहानुभूति भी रहनी चाहिये जिससे बालक को यह विश्वास बना रहे कि माता पिता के मन में उसका हित ही प्रधान है, अपना बड़प्पन या अहम् नहीं।

अध्याय ८

चोरी

नन्हा प्यारा बच्चा केवल माता-पिता का दुलारा ही नहीं होता, वह अपने स्वभाव की सरलता के कारण सर्वप्रिय हो जाता है। उसके नन्हें-नन्हें खेल सबके मन को मुग्ध करते हैं। उसकी काल्पनिक कहानियाँ और क़िस्से उसके मन की सच्चाई और सरलता का सुन्दर और स्निग्ध परिचय देते हैं।

बच्चा स्वभाव की सरलता के कारण सच-झूठ जैसे गुण-दोष से साधारणतः मुक्त होता है, अर्थात् वह न सच्चा होता है और न झूठा। जो वह देखता है, सुनता व सोचता है, वर्णन करता है। अनुभवों के दुःख सुख निःसन्देह उसे प्रभावित करते हैं। दुःखप्रद स्थितियों के बदलने के लिये, तथा सुखद घटनाओं को बनाये रखने के लिये वह व्यक्त अथवा अव्यक्त-रूप से तरह-तरह की चेष्टा करता है। चूँकि माता पिता केवल उसके दुःख के निवारणकर्ता ही नहीं, सुख के स्रोत भी होते हैं, इसलिये उनके प्रति उसके मन में गहन कृतज्ञता और स्नेह पैदा हो जाता है। बालकों के जीवन में मोह और ममता का स्थान इतना महत्वपूर्ण है कि इसे उनके जीवन का आधार कहना ग़लत न होगा। परन्तु मोह और ममता के होते हुए भी, उनके मन में लोभ नहीं होता। वे माता पिता को प्यार करते हैं, उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें अपनी निधि मानते हैं। उनकी ममता के आगे संसार के सब सुख उन्हें तुच्छ दिखाई पड़ते हैं। माता पिता के साथ वे दरिद्रता में भी सुखी और सन्तुष्ट रहते हैं, और उनसे दूर सब सांसारिक सुख के होते हुए भी वह असन्तुष्ट और अप्रसन्न ही दिखाई पड़ते हैं। संसार का कोई भी प्रलोभन माता पिता के प्रेम की तुलना नहीं कर पाता।

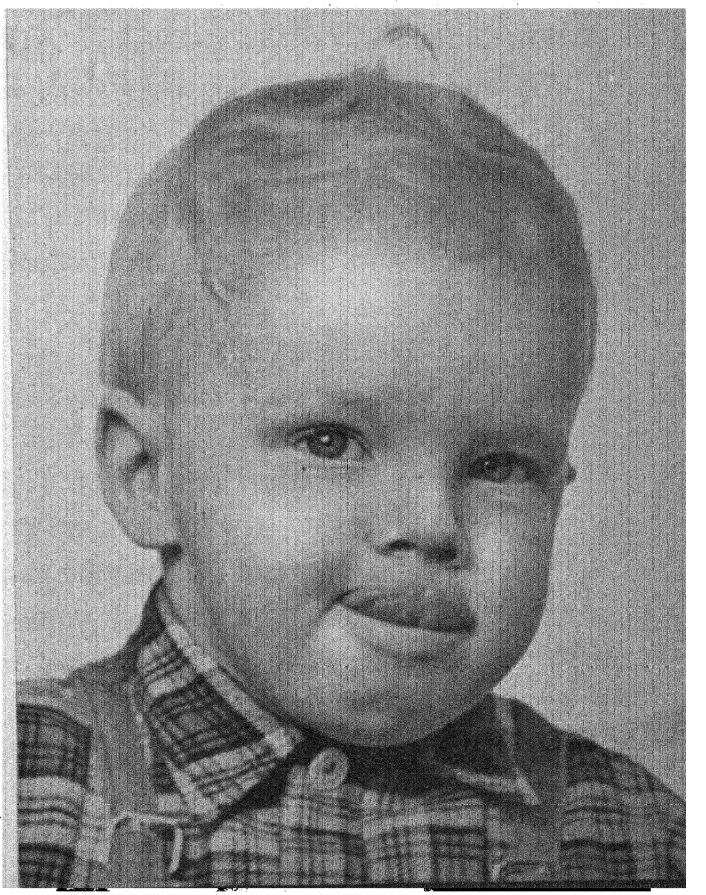
चोरी का अंकुर है लोभ, और उसका आधार है झूठ। चूँकि बालकों में साधारणतः लोभ नहीं होता, इसलिये वह अधिकतर चोरी के दोष से भी मुक्त होते हैं। परन्तु जब विपरीत परिवेश के कारण उनकी सहज इच्छाएँ तृप्त नहीं हो पातीं, तो उनमें लोभ जैसे दोषों के उत्पन्न हो जाने की बहुत संभावना हो जाती है। लोभ झूठ के सहारे परिपक्व होकर चोरी में परिणत होता है। निर्लोभी बालक चोरी का दोषी हो ही

नहीं सकता। झूठ का आधार न रहने पर लोभ चोरी की इच्छामात्र रह जाता है, चोरी में बदल नहीं पाता, अर्थात् लोभ व लालसा के होने पर भी यदि बालक झूठ के दोष से मुक्त है तो वह चोरी नहीं कर सकता, चोरी की सफलता झूठ के चातुर्य पर निर्भर करती है।

यह तो सब जानते ही हैं कि बच्चा जीवन के पहले वर्षों में झूठ नहीं बोलता। शैशव में की गयी झूठी बातें यथार्थ में झूठी नहीं होतीं, वह तो बालक की कल्पना के बाहुल्य का परिणाम होती हैं। वह जो समझता व सोचता है, उसी को वास्तविक मान कर उसकी चर्चा करता है। वास्तविकता में खोये प्रौढ़ व्यक्ति बालक के स्वभाव के इस सहज गुण को समझ नहीं पाते, वे उसे कल्पनाशील समझने के स्थान पर झूठा आदि कहने लगते हैं। यही बात बालक के अन्य व्यवहार के संबंध में भी सत्य है। अधिकतर व्यक्ति बालक के स्वभाव से अनभिज्ञ होने के कारण उसमें वह दोष देखने लगते हैं जिनसे बालक स्वाभाविक रूप से ही मुक्त होता है, जैसे संचय-प्रवृत्ति के कारण बालक में वस्तुओं को संग्रह करने की इच्छा नैसर्गिक होती है। जब किसी सुन्दर वस्तु को वह देखता है, तो उससे प्रसन्न होकर उसे अपनाना चाहता है। सुन्दर फूल को देखते ही उसके रंग अथवा सुगन्ध पर मुग्ध होकर वह उसे तोड़ लेता है। इससे उसकी अधिकार-भावना तृप्त होती है। उस फूल को वह अपने संगी-साथियों में ले जाता है, उन्हें दिखाता है, तथा प्रसन्न होता है। उस फूल को उसने कैसे और कहाँ से पाया, इसका वर्णन भी वह उनसे स्वच्छंद भाव से करता है। परन्तु इसी फूल को वह बड़ों की दृष्टि से बचाता है, यहाँ उसके व्यवहार में चोरी-के-से लक्षण आ जाते हैं। इसके यह अर्थ नहीं कि वह चोर है। नहीं, वह न चोर है न साधु। वह तो केवल माता-पिता की ताड़ना से भय खाता है। जिस प्रकार एक इच्छा से प्रेरित होकर वह फूल तोड़ता है, उसी प्रकार दूसरी इच्छा के अधीन अपने को मार-पीट और डाँट-डपट से बचाने के लिये वह उस फूल को बड़ों की दृष्टि से बचाने का प्रयत्न करता है। ऐसे अबोध बालक के सामने सच-झूठ, गुण-अवगुण का बखान बे-सिर-पैर की बात है। बच्चा न सच्चा है और न झूठा; वह तो केवल सरल स्वभाव का है। इस लिये उसे फूल तोड़ने से रोकने के लिये यह समझाना उचित होगा कि फूल पौधों पर सुन्दर लगते हैं, पौधों पर वह कई दिन तक बने रहते हैं जब कि तोड़ लेने पर वह जल्दी ही मुरझा जाते हैं। यदि फूल तोड़े भी जायँ तो उन्हें फूलदान में लगा कर रखना

चाहिये ताकि उन्हें पानी मिलता रहे और वह कुछ समय के लिये सुन्दर बने रहें। फूलों को सजाने की इच्छा के आते ही वे उन्हें नष्ट करना छोड़ देते हैं। इसी प्रकार उनकी अन्य हानिकारक इच्छाएँ भी रचनात्मक क्रिया में परिणत की जा सकती हैं।

कभी कभी बालक दूसरों के खिलौने भी उठा लाते हैं। खिलौने की नवीनता व सुन्दरता से वह इतने प्रभावित होते हैं कि उन्हें अपनाने की इच्छा उनमें प्रबल हो जाती है। छोटी आयु के बालकों के लिये किसी वस्तु को चाहना और अपनाना एक ही बात है। खिलौनेवाला कहीं उससे खिलौना छीन न ले, इस भय से वह उसे छिपाता हुआ अपने घर उठा लाता है। बालक के स्वभाव से अनभिज्ञ होने के कारण माता पिता उसे चोरी आदि का अपराधी समझने लगते हैं। उनका मन भाँति-भाँति की आशंका से भयभीत हो उठता है। अपने बालक को इस दोष से मुक्त करने के भाव से वे उसकी डाँट-डपट करते हैं, तथा जिसका वह खिलौना होता है, उसे लौटा कर ही चैन लेते हैं। अपने इस व्यवहार से वे अपनी सच्चाई की धाक तो निःसन्देह जमा लेते हैं, किन्तु बालक इससे एक नये असमंजस में पड़ जाता है। माता-पिता की डाँट डपट उसे उनका कोरा बड़प्पन ही दिखाई पड़ता है। वह उनसे भय खाने लगता है, उसका उन पर से विश्वास उठ जाता है। उसे भले बुरे का ज्ञान होता ही नहीं, खिलौने की इच्छा उसके मन में बनी



असमंजस
मिसेज़ ग्रिपमन के सौजन्य से

ही रहती है। वह उस चीज़ को पाने के लिये तरह तरह की तरकीबें सोचता है परन्तु बहुधा मारपीट के भय से अपनी इच्छा को क्रिया में नहीं बदलता। अवसर मिलने पर वह उन चीज़ों को फिर उठाता है और इस बार उन्हें केवल उस बच्चे से ही नहीं छिपाता जिसकी वह होती हैं, बल्कि माता-पिता से भी ध्यानपूर्वक छिपाता है। धीरे धीरे वह चीज़ें उठाने तथा उन्हें छिपाने में इतना निपुण हो जाता है कि कुछ ही दिनों में वह चोरी का सही अपराधी बन जाता है।

बालक की इस प्रकार डाँट-डपट करने के स्थान पर यदि उसके ध्यान को इस बात की ओर आकर्षित किया जाय कि उसने जिसकी वस्तु उठाई है वह उसे चारों ओर ढूंढ़ रहा होगा, उसके खो जाने पर रोयेगा, उसके माता-पिता भी वस्तु के खो जाने पर उससे बिगड़ेंगे इत्यादि, तो उस बालक के प्रति उसके मन में सहानुभूति का उमड़ आना निश्चित है। इन बातों से वह अपने को उस बालक की स्थिति में देखने लगता है जिसकी वस्तु वह स्वयं उठा लाया है। सहानुभूति के उमड़ते ही खिलौने को इस तरह अपनाने की खुशी स्वत: मिट जाती हैं। उसके स्थान पर वह अत्यन्त खिन्न हो जाता है। मन ही मन वह अपने किये पर पछताता है, तथा उस वस्तु को लौटा देना चाहता हैं। उस वस्तु को लौटाने में यदि माता पिता उसका सहयोग दें तो उनमें परस्पर विश्वास और मित्रता बढ़ती है। विश्वास और मित्रता झूठ के ऐसे शत्रु हैं कि इनके होते हुए झूठ अथवा उस पर आधारित अन्य दोष बालक के व्यवहार को छू नहीं पाते।

चूंकि लालसा से चोरी की इच्छा को उत्तेजना मिलती है, इसलिये जहाँ बालकों में बराबरी का नाता पाया जाता हैं, वहाँ वह एक दूसरे की वस्तुओं की चोरी नहीं करते। परन्तु जहाँ बालकों की आर्थिक अवस्था में भेद-भाव बहुत होता है किन्तु उनका आपसी सम्पर्क नित्य का होता है, वहाँ निर्धन के मन में अच्छी-अच्छी सुन्दर तथा नवीन वस्तुओं को अपनाने की इच्छा प्रबल हो जाती है। दूसरे बालकों के पास नित्य नयी व सुन्दर वस्तुएँ देखकर, वह भी उनसे कुतूहलवश खेलना चाहता है, उन्हें अपने हाथों में लेना चाहता है। यदि सुभीते के साथ उसे उन खिलौनों के खेलने का अवकाश मिलता रहे तो वह उन्हें बालकों की सामूहिक निधि समझने लगता है। वह उनसे खेलकर उन्हें सुरक्षित रूप से सही ठिकाने पर रख देता है, उन्हें इधर उधर से उठा कर उनके मालिक के पास पहुँचा देता है, अर्थात् उनका ध्यान भी वह अपने खिलौनों की भाँति ही रखता है। ऐसी स्थिति में एक दूसरे की चीज़ उठाने व छिपाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

परन्तु जब किसी बालक को सुन्दर वस्तुएँ दूसरे के हाथों में देखने को तो नित्य मिलती रहें, किन्तु स्वयं वह उनसे कभी खेल न सके, तो उन खिलौनों के लिये उसके मन में लालसा पैदा हो जाती है। वह खिलौनेवाले बालक से ईर्ष्या करने लगता है। ईर्ष्या और लालसा उसे चोरी करने को प्रेरित करती हैं। माता-पिता के भय से वह अपनी इच्छा को मन ही मन दबाने का प्रयत्न करता है। परन्तु कभी कभी अवकाश मिलने पर वह उन खिलौनों को उठा भी लाता है। कई माता-पिता मोह तथा अज्ञानवश बच्चे के इस व्यवहार में सहयोग दे बैठते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे बालक के लिये चोरी करते हैं, या उसे चोरी करने को कहते हैं; बल्कि यह कि बालक जब कुछ उठा लाता है तो इस भय से कि लोग उसे चोर कहेंगे वे उस पर बिगड़ते हुए भी, उस वस्तु को छिपा देते हैं। इस भय से कि बच्चा कहीं दूसरे की दृष्टि में गिर न जाय, वे उसके हर काम को, चाहे वह कितना भी गलत क्यों न हो, छिपाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार अनजाने में वे बच्चे के ग़लत कामों में उसका सहयोग दे बैठते हैं। फलस्वरूप बच्चे में वही दोष पैदा हो जाते हैं जिनके नाममात्र से माता-पिता स्वयं भय खाते थे। तीव्र बुद्धि बालक निःसन्देह अपनी विवेकशीलता से अपने को कलुषित वातावरण के प्रभाव से बहुत कुछ बचाये रखता है। वह ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से अपने वातावरण की विवेचना करता है, तथा उसके गुण-दोषों को समझता है, जिससे वह दूषित वातावरण के बुरे प्रभाव से बचा रहता है। किन्तु सामान्य बुद्धि का बालक वातावरण के गुण और दोषों को समझ नहीं पाता, वह अधिकतर उन्हें ज्यों का त्यों ही अपना लेता है। वातावरण पर क़ाबू पाने के स्थान पर वह स्वयं ही उसके रंग में रँग जाता है। मन्द बुद्धि के बालकों के लिये साधारण वातावरण को समझना भी कठिन होता है। अपनी दिन प्रतिदिन की साधारण समस्याओं को भी वे स्वयं सुलझा नहीं पाते। इसी-लिये ऐसे बालकों के लिये माता-पिता की देखभाल विशेषकर आवश्यक होती है। उनके संबंध में उन्हें असाधारण सावधानी से काम लेना चाहिये।

चूँकि बच्चा अपने सहज स्वभाव से चोरी नहीं करता, इसलिये उसे सही शब्दों में, 'चोरी का अपराधी' भी नहीं कहा जा सकता। बच्चा यदि चोरी करने लगा है तो इसका उत्तरदायित्व यथार्थ में उस वातावरण का है जिसने उसे स्वाभाविक पथ से डगमगा कर, विकृत व्यवहार को अपनाने के लिये बाध्य किया है; अर्थात् बच्चे के दोषों का सही अपराधी वह वातावरण है जिसने उसके सहज स्वभाव को विकसित करने के स्थान पर उसमें अविश्वास, झूठ और लालच जैसे दोषों को भर दिया है।

हम देखते हैं कि वृक्ष, पौधे तथा लताएँ अपने अपने सहज गुण के अनुसार बढ़ती, फैलती और फूलती हैं। कुछ वृक्षों की शाखाएँ चारों ओर फैलती हैं, और कुछ सीधे ऊंचे बढ़ते हैं, जब कि लताएँ अपने फैलने के लिये दूसरे का सहारा ताका करती हैं। परन्तु इनके विकास की राह में यदि कोई बाधा आ जाय तो यह टेढ़े-मेढ़े होकर बढ़ने का प्रयत्न करते हैं; तो भी इनका विकास बहुत कुछ अधूरा ही रह जाता है। यही बात बालक के सम्बन्ध में सत्य है। वातावरण के अनुकूल होने पर बच्चा सरल स्वभाव से सच्चे और सही रास्ते पर अग्रसर होता है, परन्तु वातावरण के अनुकूल न रहने पर, वृक्ष की भाँति, बालक का स्वभाव भी विकृत हो जाता है। वह झूठ और चोरी जैसे दोषों को अपनाने लगता है। यदि बालक के इन दोषों का अध्ययन उन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में किया जाय जिन्होंने उसे इन्हें अपनाने को बाध्य किया है तो इन्हें 'बालक की अपने को जीवित बनाये रखने की' अव्यक्त इच्छा का द्योतक ही मानना पड़ेगा। बालक अपने को बनाये रखना चाहता है, तथा अपने विकृत व्यवहार से उन परिस्थितियों पर क़ाबू पाना चाहता है जो उसके सहज सुख और संतोष की राह में बाधक बनती हैं। इसी कारण बालक के व्यवहार के दोषों को उसके वातावरण की ही देन समझनी चाहिये।

बच्चे के वातावरण के निर्माता उसके माता पिता, बहन भाई तथा वह संगी साथी हैं जिनके संपर्क में बच्चा दिन रात रहता है। वह बहुत कुछ उनका ही प्रतिबिम्ब होता है। इसलिये बच्चे का दोष उसके घर का दोष है, संगी साथियों का दोष है। इसी कारण यदि कोई बच्चा चोरी करने लगता है तो उसके प्रति कटु होकर उसे दिन रात कोसने के स्थान पर माता-पिता को चाहिये कि वे बालक के दोष को स्वयं अपना अपराध मान कर उसके वातावरण को स्वच्छ और सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें, बच्चे की समस्याओं को सहानुभूति के साथ समझें, जिससे बालक का उन पर से अविश्वास दूर हो। चूँकि सीधे और सच्चे मार्ग का अनुसरण करना बालक के सहज स्वभाव के अनुकूल है, इसलिये मित्रता और स्नेह के साथ उसके दोषों का सहज ही निवारण किया जा सकता है। स्नेह और मित्रता से बालक बड़ी सुगमता के साथ सीधी और सच्ची राह पर आ जाता है।

अध्याय ६

सामूहिक जीवन में अरुचि

आपसी मेल-जोल का जीवन तथा उसका आनन्द बालकों के लिये ठीक उतना ही स्वाभाविक है जितना कि खाना-पीना या खेलना-कूदना। मनुष्य में सामूहिक जीवन की इच्छा केवल नैसर्गिक ही नहीं बहुत प्रबल भी है, और इसका विकास भी शैशव में ही हो जाता है। माँ के आँखों से दूर होते ही बालक बिलख-बिलख कर रोने लगता है, मानो कि कह रहा हो, "क्या मुझे भूल गयी हो माँ ?"

संगी-साथियों की उपस्थिति से इस नैसर्गिक इच्छा को विशेष उत्तेजना मिलती है। साथियों को देखते ही बच्चा उनमें रम जाना चाहता है, उनमें अपने को खो कर सन्तुष्ट और प्रसन्न होता है। दण्ड का भय भी उसकी इस नैसर्गिक इच्छा की अवहेलना नहीं कर सकता। वह चुपके से पैर दबाता हुआ माता-पिता तथा अन्य लोगों की आँख बचा कर वहीं जा पहुँचता है जहाँ उसके साथी होते हैं। यद्यपि उन तक पहुँचने के लिये वह बहुत हल्के-हल्के क़दम उठाता है, किन्तु उनमें पहुँचते ही वह इतना आनन्द-विभोर हो जाता है कि स्वयं उसे अपनी भी ख़बर नहीं रहती। फलस्वरूप खेल में तल्लीन होते ही वह इतना शोरगुल मचाने लगता है कि अपने वहाँ होने की सूचना आस-पास सब को दे देता है।

सामूहिक जीवन की इच्छा की तीव्रता के महत्व को माता-पिता, अध्यापक तथा स्वयं बालक भी खूब अच्छी तरह जानते, समझते और पहचानते हैं। इसीलिये जब कोई बालक कुछ अनुचित कार्य कर बैठता है तो दण्ड के रूप में उसे कुछ समय के लिये साथियों से अलग कर दिया जाता है। स्वयं बच्चे भी दूसरे बच्चों की इस कमज़ोरी का पूरा पूरा लाभ उठाते हैं। जैसे, जब कभी कोई बच्चा अपने संगी-साथियों का खेल बिगाड़ता है तो सब बालक मिलकर उसे अपने समूह से अलग कर देते हैं, कुछ समय के लिये उससे खेलना और बोलना बन्द कर देते हैं। यद्यपि यह दण्ड प्रायः बहुत ही थोड़े समय के लिये होता है पर इस का प्रभाव साधारणतः सन्तोषप्रद पाया जाता है। इसी प्रकार माता पिता तथा अध्यापक भी बालक को कड़ा दण्ड देने के हेतु, उसे कुछ समय के लिये उसके साथियों से दूर अलग बैठा देते हैं। बालक इस दण्ड से घबरा कर अपने व्यवहार को बदलने के लिये बाध्य हो जाता है। मारपीट अथवा डाँट-डपट भी इसी उद्देश्य से की जाती है, परन्तु

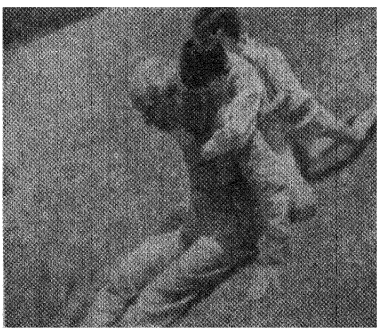


बार बार की मारपिटाई और डाँट-फटकार से बालक उसका आदी-सा हो जाता है, तथा उसकी अवहेलना करने लगता है। इसके अतिरिक्त मार-पीट व डाँट-फटकार एक ऐसा भद्दा और असभ्य व्यवहार है कि इससे भूल करनेवाले के साथ ही सज़ा देनेवाले की प्रतिष्ठा को भी ठेस पहुँचती है। चूँकि आपसी मेल-जोल की इच्छा बालकों में सदा नूतन तथा प्रबल होती है, इसलिये वह दण्ड जो बालकों को उनके साथियों से अलग कर देता है, उन पर सदा ही नयी तथा गहरी चोट करता है। परन्तु इस दण्ड की अवधि और आवृत्ति इतनी अधिक कदापि नहीं होनी चाहिये कि उससे बालक का मन कुण्ठित हो जाने की आशंका हो। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि उसका स्वरूप ऐसा न हो कि वह स्वयं ही बालक के लिये खेल अथवा मज़ाक बन जाय।

सामूहिक जीवन की इच्छापूर्ति के लिये केवल अन्य बालकों का संसर्ग ही पर्याप्त नहीं होता, किन्तु यह भी आवश्यक है कि उन बच्चों में परस्पर समानता का भाव और व्यवहार भी हो जिससे कि वे बराबरी के साथ खेल कूद और बातचीत में परस्पर भाग ले सकें। यदि कोई बालक आत्महीनता के भाव के कारण दूसरे बच्चों के साथ बराबरी का नाता नहीं बना पाता तो वह उनमें होते हुए भी अकेला ही रह जाता है। दूसरे बच्चों की उपस्थिति उसके एकाकीपन को और भी तीव्र तथा असहनीय बना देती है। बहुधा इस लालच से कि बालक को खेलने के लिये अच्छे, सुन्दर और नवीन खिलौने मिलेंगे, उच्च घराने की शिक्षा-दीक्षा का लाभ होगा, कुछ माता-पिता अपनी सन्तान को ऐसे वातावरण में जाने को बाध्य करते हैं जहाँ जाते ही उनमें आत्महीनता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। तीव्रबुद्धि के बालक अपनी क्रिया-कुशलता से ऐसे वातावरण में भी अपना स्थान बना लेते हैं, किन्तु सामान्य बुद्धि के बालक ऐसे वातावरण में समान भाव से मिलजुल कर खेलने के स्थान पर सहमे-से रह जाते हैं। खेल बालक क मानसिक विकास का प्राकृतिक साधन है। सामूहिक खेलों द्वारा बालक सामाजिक जीवन की राह पर अग्रसर होते हैं। परन्तु ऐसे वातावरण में खेल की सब सामग्री तथा अन्य बालकों की उपस्थिति के होते हुए भी यह बालक खेल तथा मेल-जोल दोनों से ही वंचित रह जाते हैं। इससे उनके मानसिक विकास की सहज गति को धक्का लगता है। आपसी मेल-जोल की दुनिया से इस प्रकार वंचित बालक सामूहिक जीवन के प्रति उदासीन अथवा कटु हो जाता है। उसका मन कुण्ठित हो जाता है और वह धीरे धीरे अपने में सिमटने लगता है। अपनी अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति के लिये वह कल्पना की शरण लेता है और अधिकतर दिवास्वप्न में खोया रहता है।

छोटे बालकों में कल्पना का आधिक्य पाया जाता है, अनुभवों के अभाव के कारण वे वास्तविक और काल्पनिक के भेद को नहीं समझते, किन्तु जैसे जैसे अनुभव बढ़ते हैं इन दोनों का अन्तर भी उनके मन पर स्पष्ट होता जाता है। कभी-कभी माता-पिता अपने अच्छे भले बालकों को घण्टों ही काल्पनिक क़िस्से-कहानियों की किताबों में जुटा हुआ देखकर उन्हें आपसी मलजोल से अथवा सामूहिक जीवन से खिचा हुआ समझने लगते हैं। उन्हें कहानियों में तल्लीन तथा आस-पास के वातावरण और संगी-साथियों की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति के प्रति उदासीन पाकर उनका मन शंकित हो उठता है, परन्तु यथार्थ में उन कहानी क़िस्सों के पात्र बालक के लिये इतने रुचिकर साथी हो जाते हैं कि उस समय अन्य साधारण बालक उनके ध्यान को आकर्षित नहीं कर पाते। चूंकि इन पात्रों द्वारा बालक अपनी सामूहिक जीवन की इच्छा को तृप्त करते है, इसलिये उन्हें सामाजिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं कहा जा सकता। साथियों के अभाव में भी कल्पना के आधार पर बालक प्रायः सामूहिक खेल अकेले ही खेल लेते हैं। मुँह से 'झक-झक-झक' करते हुए और एक दूसरे का कुरता थामे बालक तेज़ी से आगे पीछे चलकर रेलगाड़ी की सवारी का आनन्द उठा लेते हैं। सबसे बड़ा बच्चा सबके आगे आगे इंजन के रूप में अपने हाथों को घुमाता हुआ और झक-झक करता चलता है जब कि अन्य सब बालक रेलगाड़ी के डिब्बे बने रहते हैं। इस प्रकार वह स्वयं ही रेलगाड़ी तथा उसकी सवारी बन जाते हैं। जब कभी अकेले बालक में इस सामूहिक खेल की इच्छा प्रबल हो उठती है, तो वह एक रस्सी के साथ कुछ वज़नी वस्तुओं को बाँध कर अपनी कमर से बाँध लेता है और अकेले ही "झक-झक" करता हुआ इंजन के रूप में चलकर रेलगाड़ी की सवारी का आनन्द उठा लेता है। ऐसे अवसर पर यदि कुछ अन्य बालक वहाँ आ पहुँचते हैं तो वह उन वस्तुओं को छोड़कर, उन्हें अपने साथ खेल में मिला लेता है। ऐसी कल्पना जो बालक को पशु-पक्षी और साथियों से खेलने को प्रेरित करती हैं, उसके मानसिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी होती हैं। हानिप्रद

चल मेरी गाड़ी झक झक झक

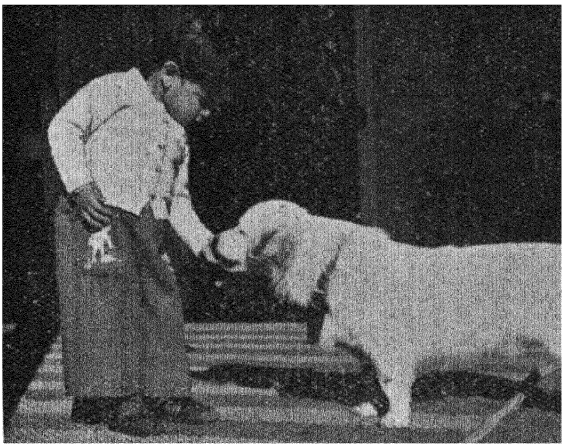




श्रीमती इन्दिरा गांधी के सौजन्य से



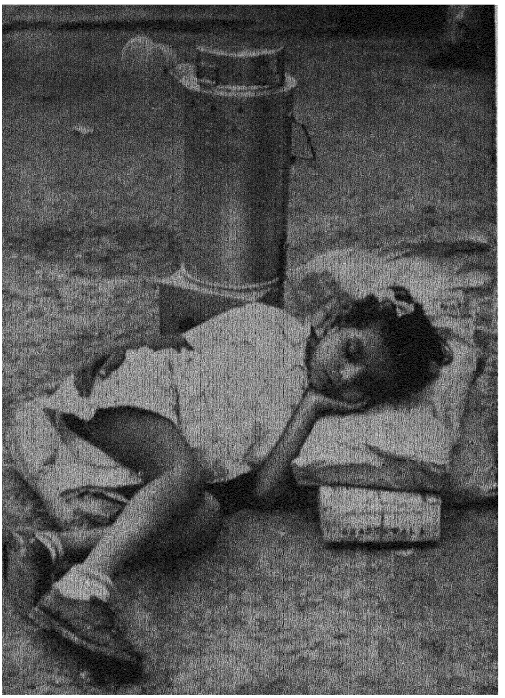
कल्पना यथार्थ में वह है जो बालक को सामूहिक जीवन के प्रति उदासीन कर स्वयं उसकी इच्छाओं की पूर्ति का सरल साधन बन जाती है।



दो मित्र — श्री ना. प्र. गुप्ता के सौजन्य

सामूहिक जीवन के प्रति बच्चों की उदासीनता के मानसिक और शारीरिक अनेक कारण हो सकते हैं; जैसे, लगातार शारीरिक थकान से बालक के व्यवहार में ऐसी शिथिलता आ जाती है कि वह खेलकूद में अन्य बालकोंके साथ बराबर भाग नहीं ले सकता, जिससे उसमें सामूहिक जीवन के प्रति अरुचि दिखाई पड़ती है। अपर्याप्त पोषण अथवा नींद का अभाव शारीरिक थकान के दो मुख्य कारण हैं। बच्चा स्वभाव से कभी निश्चल नहीं बैठता, वह सदा खेलता, कूदता और हाथ पैर मारता रहता है। उसकी शारीरिक वृद्धि भी तीव्र गति से होती है। इसलिये उसे अच्छी खूराक तथा नींद की बहुत आवश्यकता है। बच्चों की खूराक स्फूर्तिप्रद तथा पुष्टिकर होनी चाहिये किन्तु अधिकतर घरों में व्यक्तियों की खूराक उनकी अवश्यकतानुसार नहीं, बल्कि उनकी आर्थिक उपयोगिता के अनुसार दी जाती है। सबसे पुष्टिकर तथा क्षुधावर्द्धक भोजन कमानेवाले पुरुष को नियत समय पर दिया जाता है, जबकि बच्चों के खाने का न समय ही नियत होता है, और न उसपर उचित ध्यान ही दिया जाता है। दूध, मक्खन, अंडा आदि पुष्टिकर वस्तुएँ अधिकतर उस अधेड़ उम्र के पुरुष को दी जाती हैं, जिसे उनकी उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी कि बढ़ते हुए बालकों को, और कहीं कहीं तो मुटापे के कारण अधेड़-उम्र व्यक्ति के लिये चिकनाई अहितकर भी हो सकती है। पथ्य-विज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण घर का आहार बहुधा इस प्रकार का रहता है कि उसका लाभ ठीक प्रकार से न बच्चों को ही होता है, और न बड़ों को।

जिस प्रकार शारीरिक वृद्धि के कारण बालकों को पर्याप्त खूराक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार उनकी निरन्तर क्रियाशीलता में लगी शक्ति की पूर्ति के लिये आराम भी आवश्यक है। नींद द्वारा आराम पाकर वह अपनी व्यय की हुई शक्ति की पूर्ति करते हैं, इससे उनकी थकान दूर होती है। अच्छी गहरी नींद के पश्चात् बालक स्वस्थ तथा प्रसन्नचित्त दिखाई पड़ता है, जब कि सहसा उखड़ी नींद से बालक चिड़चिड़ा हो जाता है। नींद बालकों की



थक कर कहां भी सो गय !

प्राथमिक आवश्यकता है। वह उन्हें फिर से नया और ताज़ा बना देती है, परन्तु इसकी ओर प्रायः ध्यान ही नहीं दिया जाता। बच्चों के सोने के स्थान पर तेज़ रोशनी, शोरगुल अथवा मच्छर-मक्खी प्रायः सब ही पाये जाते हैं। थकान से चूर बच्चा ऐसे वातावरण में सो तो निःसन्देह जाता है, किन्तु उसकी नींद पूरी नहीं हो पाती। इससे उसकी खेल की प्रवृत्ति में शिथिलता आ जाती है। इसलिये जब खेल के प्रति किसी बालक में उदासीनता या अरुचि आ जाय तो इसके पूर्व कि उस अरुचि को मानसिक विकार समझ लिया जाय, उसकी शारीरिक परीक्षा करवा लेनी चाहिये।

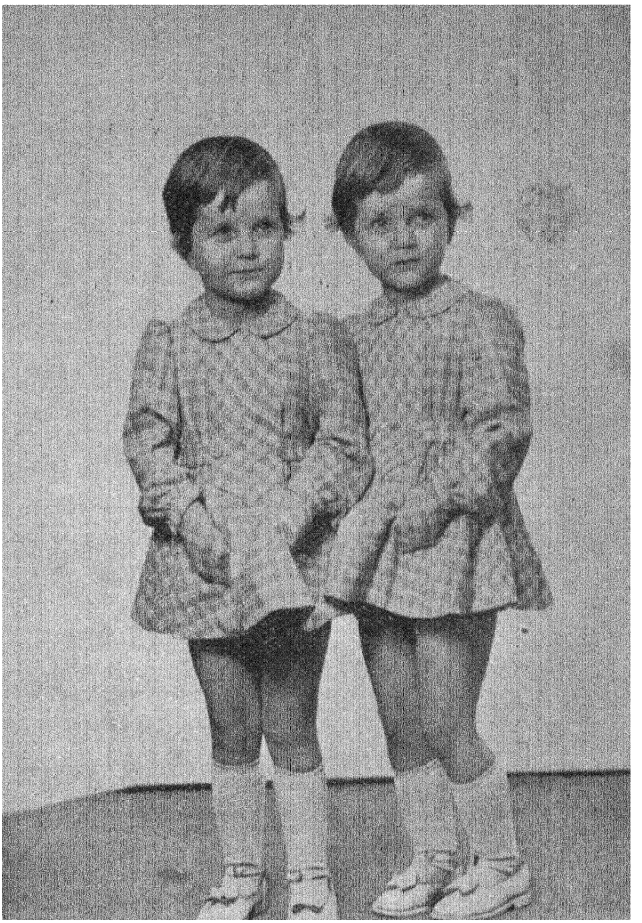
यद्यपि सामूहिक जीवन की इच्छा बालक में नैसर्गिक है, किन्तु सामाजिक जीवन की शिक्षा-दीक्षा उसे अनजाने में ही सामूहिक खेल तथा क्रिया द्वारा मिलती है। वातावरण से बालक को क्रिया की उत्तेजना मिलती है। क्रिया द्वारा वह अपने व्यवहार को वातावरण के अनुकूल बनाता है और वातावरण को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करता है। इसलिये उसके चरित्र पर वातावरण का प्रभाव गंभीर पड़ता है।

घर के अतिरिक्त पाठशाला का भी बालक के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक शिक्षा-केन्द्र का मुख्य उद्देश्य बालक को अच्छा और उपयोगी नागरिक बनाना है। शिक्षा-केन्द्र में बालक अधिकतर सामूहिक क्रियाओं में संलग्न रहते हैं। लिखने पढ़ने जैसी क्रियाएँ जो देखने में केवल व्यक्तिगत प्रतीत होती हैं, यथार्थ में सामूहिक जीवन के प्रभाव से मुक्त नहीं होतीं। बालक केवल पढ़ता लिखता ही नहीं, वह अपनी पढ़ाई लिखाई की तुलना भी अपने सहपाठियों से करता रहता है। साथियों और मित्रों की वेशभूषा अधिकतर एक-सी होती है।

वेश-भूषा की तुलना इतनी प्रत्यक्ष है कि यह सहज ही आत्महीनता अथवा आत्म-गौरव का विषय बन जाती है। आत्महीनता की भावना बालक को आपसी मेल जोल के जीवन से विरक्त कर देती है। इसलिये इस भावना-ग्रंथि की संभावना को दूर

करने के लिये, पाठशाला में सब बालकों के लिये एक सी वेश भूषा होना आवश्यक हो जाता है। स्कूल का वेश सदा सादा और सस्ता होना चाहिये। चूँकि छोटे बच्चों को रंग विशेष प्रिय होते हैं, इसलिये कपड़ा सदा ऐसा होना चाहिये जिसका रंग देखने में आकर्षक तथा ऋतु और रिवाज के अनुकूल हो।

चूँकि वातावरण के संसर्ग से बालक का अपना स्वभाव ही विकसित होता है, इसलिये उसके जीवन को वातावरण का कोरा प्रतिबिम्ब ही नहीं कहा जा सकता। उसका व्यवहार उसके व्यक्तित्व को व्यक्त करता है। व्यक्तित्व मनुष्य की वह विशेषता है जो उसे अन्य व्यक्तियों से प्रथक् व्यक्तित्व का आधार है।



भिन्न : फिर भी अभिन्न — मिसेज़ ग्रिफमन के सौजन्य

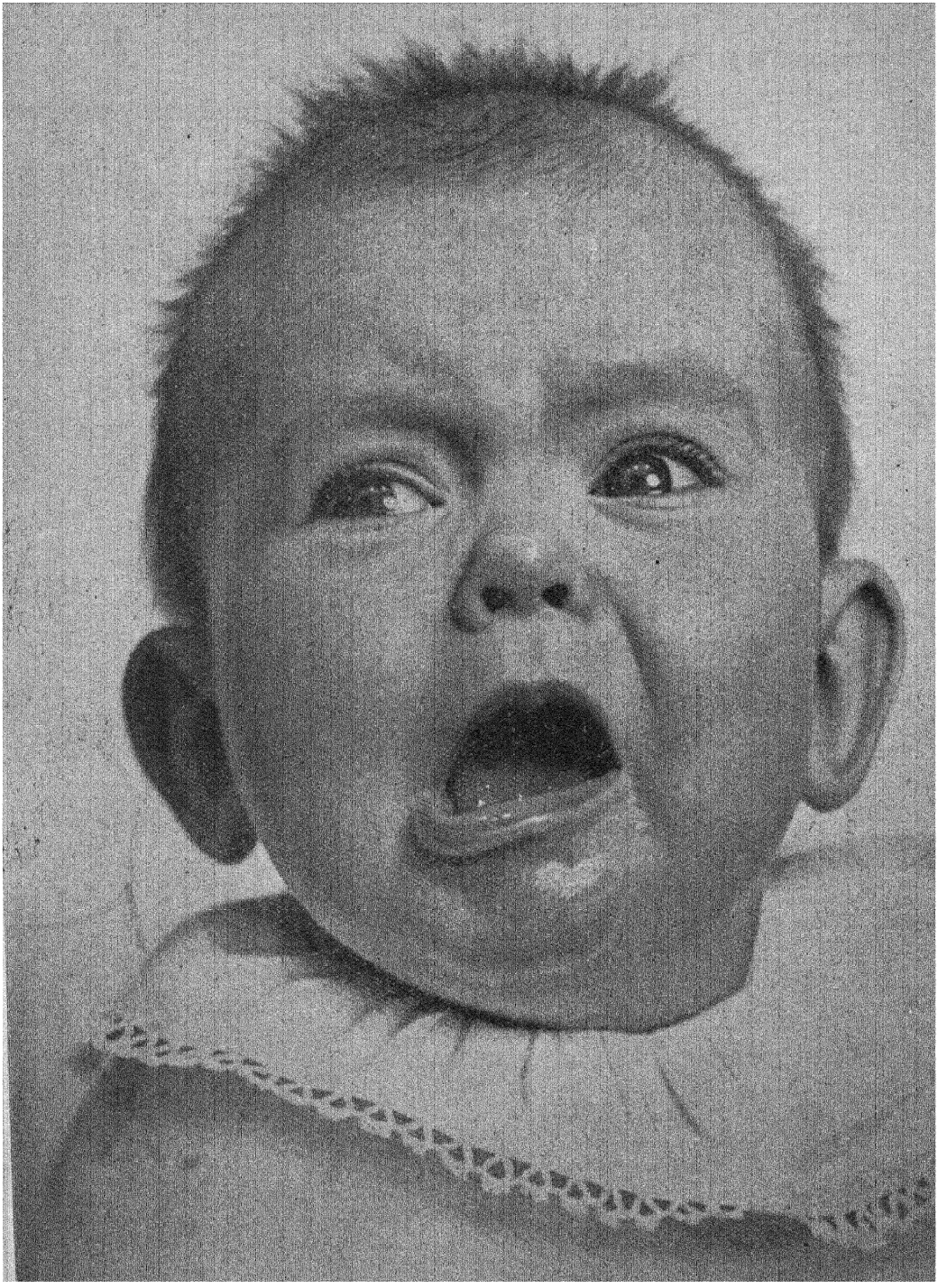
अपना विशिष्ट रूप प्रदान किये रहती है। वैयक्तिक भिन्नता योग्यता में वैयक्तिक भिन्नता का होना अनिवार्य है। सब बालक न एक-सा काम करते हैं और न इसकी आशा ही उनसे की जा सकती है। उनकी रुचियों में भी वैयक्तिक भिन्नता प्रधान रहती है। इसलिये स्कूल का कार्यक्रम तथा कार्यविधि इस प्रकार की होनी चाहिये कि प्रत्येक बालक अपनी योग्यतानुसार स्कूल के सामूहिक कार्यों में रुचिपूर्वक भाग ले सके। बालक यदि अपने सहपाठियों के उपहास का विषय नहीं बनता तो वह विशेष योग्यता के अभाव में भी सन्तुष्ट और प्रसन्न दिखाई पड़ता है। उसकी आपसी मेल जोल की नैसर्गिक इच्छा अधूरी नहीं रहती। परन्तु जहाँ ऐसा

वातावरण नहीं पाया जाता वहाँ निर्धन एवं मन्द-बुद्धि बालक सहज ही उपहास का विषय बन जाता है। उपहास से पीड़ित बालक आपसी मेल-जोल से खिचने लगता है। उसमें विद्रोह की भावनाएँ उभर आती हैं, जो उसे भाँति भाँति के असामाजिक अथवा गर्हित कार्यों में अग्रसर करती हैं।

कभी कभी बालक को सद्व्यवहार सिखाने के भाव से माता-पिता कुछ ऐसे काम कर बैठते हैं जिनसे बालक के आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचती है और वे सामाजिक जीवन के प्रति उदासीन हो जाते हैं; जैसे, कुछ माता-पिता बच्चों को अपने उन मित्रों से मिलाते हैं जो बालक के लिये बिलकुल अपरिचित होते हैं और उन्हें उनके सामने कुछ कहने-सुनने अथवा करने को विवश करते हैं, मानों बालक नुमायश की वस्तु हों। ऐसे अवसर पर बच्चे यदि मदारी के बंदर की तरह ठीक प्रकार से मानसिक क़लाबाज़ियाँ नहीं लगा पाते, जिसकी उनसे आशा की जाती है, तो माता-पिता स्वयं अपनी तथा बच्चों की झेंप मिटाने के लिये तरह तरह के बहाने करने लगते हैं। उनकी इस बेबसी को देख कर, मित्र बच्चे का मन रखने के लिये कुछ बढ़ावे की बातें करने लगते हैं। किन्तु यह बढ़ावा और दिल रखने की बात बालकों से छिपी नहीं रहती। उनके आत्मसम्मान को ठेस पहुँचती ही है, और वे सामाजिक जीवन के प्रति उदासीन हो जाते हैं। यदि बढ़ावे की बातें न भी की जायँ तो भी बालक के मन को खिन्न तथा कटु करने के लिये उसकी अपनी असमर्थता की वेदना ही पर्याप्त होती है। सद्व्यवहार सिखलाने के भाव से बालक का जो इस प्रकार प्रदर्शन किया जाता है, वह सदैव ही उसके लिये अहितकर होता है, हितकर कदापि नहीं।

आपसी मेल-जोल के जीवन में अरुचि अधिकतर इकलौते बच्चों में पायी जाती है। अन्य बच्चों की अपेक्षा पहला बच्चा इस समस्या का सहज शिकार हो जाता है, किन्तु इस सम्बन्ध में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कुछ समय के लिये पहला बालक भी इकलौता ही होता है। इस समस्या के बालकों में सबसे छोटा बालक एक प्रतिशत ही पाया जाता है। इससे यह विदित होता है कि वे बालक जो कि अपने जीवन के प्रारंभिक वर्षों में माता-पिता तथा अन्य निकट व्यक्तियों के ध्यान, लाड़-दुलार व प्यार का विशेष केन्द्र बने रहते हैं, बड़े होकर सामाजिक जीवन में समान भाव से अपना स्थान नहीं बना पाते। माता पिता के विशेष दुलार के कारण उन्हें अपनी त्रुटियों और दूसरे के प्रति अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान नहीं होता। वे केवल लेना ही जानते हैं, देना नहीं।

किन्तु समाज में सब समान हैं। प्रत्येक अधिकार में कर्तव्य छिपा रहता है। जो प्राणी अपने उत्तरदायित्व को पूरा नहीं कर पाता, उसके अधिकार भी सुरक्षित नहीं रह सकते। अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिये व्यक्ति को अपनी त्रुटियों तथा क्षमता का सही अनुमान रहना चाहिये। चूंकि अत्यन्त लाड़ दुलार में पले बच्चे प्रायः कर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं, इसलिये समाज उनके थोथे बड़प्पन का आदर नहीं कर पाता। फलस्वरूप उनकी आशाएं निराशाओं में परिणत होने लगती हैं। जिस सुनहरेपन में उनका बचपन व्यतीत होता है वह उन्हें प्रायः समाज से प्राप्त नहीं होता। अतः वे समाज के प्रति कटु हो जाते हैं और उनमें कई प्रकार के मानसिक विकार पैदा हो जाते हैं। समाज की अवहेलना--अर्थात् आपसी मेल जोल में अरुचि--इनका एक रूप है।



अध्याय १०

ईर्षा-द्वेष

प्रत्येक प्राणी में आत्मप्रदर्शन तथा आत्मगौरव की भावना स्वाभाविक रूप से पायी जाती हैं। बच्चा केवल प्यार ही नहीं चाहता, वह अपने अस्तित्व का मान भी चाहता है। शैशव में अत्यन्त असहाय तथा पराधीन होने पर भी अपनी छोटी-छोटी क्रियाओं द्वारा वह केवल दूसरों के ध्यान को ही अपनी ओर आकर्षित नहीं करता, अपने अस्तित्व की रक्षा भी करता है। किसी विघ्न या बाधा के आ जाने पर उसकी चेष्टा में नया बल तथा स्फूर्ति आ जाती है। आवश्यकता पड़ने पर वह अपनी क्रियाविधि को भी बदलता है। रोकर, हँसकर और होंठ निकाल कर वह दूसरे के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित करता है।

जो क्रियाएँ उसकी माँगों को पूरा करवाने में सफल होती हैं उन्हें बालक बार बार दोहराता है। सफलताप्रद क्रियाएँ विशेष उत्साह तथा स्फूर्ति से की जाती हैं, और वह उसके आत्मप्रदर्शन तथा आत्मगौरव का विषय बन जाती हैं। जितनी तेज़ी से और अच्छी तरह वह किसी क्रिया को करता है, उतनी ही उसकी आत्मप्रदर्शन की इच्छा तृप्त होती है। धागे नाप नाप कर लड़कियाँ करोशिया करती हैं, पूनियाँ गिन गिनकर वे चरखा कातती हैं। इसी प्रकार लड़के भी अपनी फुर्ती की तुलना तरह-तरह से करते रहते हैं। लड़के-लड़कियाँ छोटे छोटे दल बनाकर एक दूसरे से खेल और काम में होड़ लगाते हैं, जिनमें हार-जीत किसी एक बालक की नहीं, पूरे दल की होती है। चूँकि वैयक्तिक होड़ में बालक में आत्माभिमान एवं आत्महीनता के भावों के उमड़ आने की विशेष संभावना रहती है, इसलिये स्कूलों में सामूहिक होड़ को अधिक पसन्द किया जाता है। सामूहिक होड़ द्वारा आत्मप्रदर्शन के साथ सामूहिक जीवन की इच्छा भी तृप्त होती है। इन दोनों के परस्पर सहयोग से आत्माभिमान की भावना की उचित रोकथाम रहती है, व्यक्ति में आत्म-संयम तथा उदारता के गुण पैदा होते हैं।

परन्तु कुछ माता-पिता अपनी तनिक सी सुविधा के कारण बालक के जीवन को सुखी और सुगम बनाने के भाव से उसके छोटे-छोटे काम स्वयं कर देते हैं, उसकी राह में आयी छोटी-मोटी अड़चनें स्वयं ही दूर कर देते हैं। फलस्वरूप बालक की इच्छाओं की पूर्ति इतनी सरलता से हो जाती है कि उसे किसी विशेष उद्योग की आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसे परिवेश में पला बालक देखने में तो अवश्य सन्तुष्ट और प्रसन्न लगता है किन्तु

यथार्थ में सफलता के आनन्द से वंचित होने के कारण उसकी आत्मप्रदर्शन तथा आत्म-गौरव की भावना अतृप्त ही रह जाती है। चूंकि उसे अपनी क्रिया द्वारा आत्मप्रदर्शन का अवकाश नहीं मिलता, इसलिये वह अपनी इन इच्छाओं की पूर्ति के लिये दूसरों की सहायता पर निर्भर रहने लगता है। इस प्रकार सदा दूसरों पर निर्भर रहने से वह अपना आत्म-विश्वास खो बैठता है, उत्साहविहीन हो जाता है। उत्साहविहीन बालक दूसरे से होड़ नहीं ले सकते, अपनी उन्नति के लिये वे किसी क्रिया में दत्तचित नहीं हो पाते, दूसरों की निर्बलता ही उनका बल बन जाती है, अपने से अधिक योग्य अथवा सम्पन्न प्राणी को देखकर उनमें ईर्षा-द्वेष उमड़ आता है, मन ही मन वे उनकी अवनति की कामना करते हैं, इन बच्चों की मानसिक दशा की तुलना ठीक उस छोटी नदी के किनारों से की जा सकती है जो अपने ऊँचेपन के लिये जल-प्रवाह में ही न्यूनता चाहने लगें। जैसे जैसे जल कम होता है किनारे ऊँचे होते जाते हैं, परन्तु उनका ऊँचापन महत्वहीन हो जाता है, उसमें न रोचकता रहती है और न आकर्षण ही।

होड़ और ईर्षा में मुख्य भेद यह है कि होड़ में चेष्टा और ईर्षा में डाह प्रधान होती है। ईर्षालु बालक स्वयं उन्नति करने के स्थान पर दूसरों की उन्नति की राह में अड़चनें डालकर उन्हें उनकी सफलता के आनन्द से वंचित रखना चाहता है। जो सुख और आनन्द स्वस्थ बालक को अपने उद्योग की सफलता पर होता है, वही आनन्द ईर्षालु बालक को दूसरों की सफलता में विघ्न-बाधा डालकर मिलता है। वह चुपके से दूसरे बालकों के खेल बिगाड़ देता है, उनकी कापियाँ आदि छिपा लेता है; किताबों के पन्ने काले कर देता है। दण्ड के भय से ईर्षालु बालक इन धन्धों को अधिकतर चोरी से करता है, परन्तु जब डाह की जलन बहुत तीव्र हो जाती है तो वह इन्हें निःसंकोच खुले आम करने लगता है, जैसे चलते चलते पैर मारकर 'खेल के घर' को गिरा देना, और कापियों पर स्याही बिखेर देना, जिससे कि ईर्षित बालक अपनी चेष्टा में अधूरा ही रह जाय। कभी कभी दूसरों के ध्यान को अन्य बच्चों की ओर से खींच कर अपनी ओर आकर्षित करने के हेतु ईर्षालु बालक उपयोगी कार्यों में भी जुट जाता है। परन्तु उनमें लगे रहने पर भी वह ईर्षित बालक को चोट पहुँचाने तथा नीचा दिखाने के किसी अवसर को हाथ से नहीं जाने देता। ईर्षित बच्चे का उपहास करना ही उसकी चेष्टा का मुख्य ध्येय बन जाता है।

डाह से पीड़ित बालक कभी-कभी अनजाने में ऐसे उपाय भी करता है जिनसे वह स्वयं ही ईर्षित बच्चे के स्थान पर पहुँच जाता है। जैसे परिवार में नन्हें असहाय बालक की ओर साधारणतः विशेष ध्यान दिया जाता है। पहला बच्चा माता पिता को अपने

प्रति उदासीन पाते ही, बीमारी आदि की आड़ लेकर अपने को छोटा बनाये रखने की चेष्टा करता है ताकि वह माता पिता के ध्यान का एकमात्र केन्द्र बना रहे। यह व्यवहार प्रायः वे बालक अपनाते हैं जो नये बालक के आगमन से अपना अधिकार सहसा खो बैठते हैं। यह चोट उन बालकों के लिये विशेषकर असहनीय हो जाती है जिन्हें होनेवाले बच्चे के प्रति बिलकुल अन्धकार में रखा जाता है, या जिनके सामने और लोगों से छोटे बच्चे की बात इतने महत्वपूर्ण ढंग से की जाती है कि व माता पिता को अपने प्रति बिलकुल उदासीन समझने लगते हैं। ऐसी परिस्थिति में बच्चा अनजाने में ही तोतली बोली या बीमारी आदि की आड़ में माता पिता के ध्यान को अपने में केन्द्रित रखने का प्रयत्न करने लगता है। रात को रोना-चिल्लाना, बिस्तर गीले करना, भूख प्यास का न लगना बहुधा इसी विकृति के विभिन्न स्वरूप होते हैं। इसका प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि ईर्षा-द्वेष अधिकतर उन भाई-बहनों में पाया जाता है जिनकी आयु में अधिक अन्तर नहीं होता। अधिक अन्तर रहने पर वे साधारणतः एक दूसरे के स्थान के इच्छुक नहीं रहते। फलतः उनमें ईर्षा-द्वेष भी कम ही पाया जाता है। परन्तु प्रत्येक बालक चाहे वह छोटा हो या बड़ा, माता-पिता के प्यार तथा विश्वास को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। उसमें माता-पिता के प्यार की इच्छा सदा ही प्रबल रहती है। इसलिये अपने सब बच्चों से माता-पिता को यथासंभव एक-सा व्यवहार रखना चाहिये।

बच्चों में वैयक्तिक भिन्नता अवश्य होती है। कुछ बच्चे अन्य बालकों की अपेक्षा अधिक समझदार और मिलनसार होते हैं। उनकी रुचियाँ भी उनकी वैयक्तिक भिन्नता को स्पष्ट करती हैं। यह वैयक्तिक भिन्नताएँ मनुष्य के व्यक्तित्व का सहज अंग हैं। इनके कारण ही व्यक्तित्व में वह विशिष्टता आ जाती है, जो मनुष्य को अन्य व्यक्तियों से पृथक् अपना विशिष्ट गुण प्रदान किये रहती है। शिक्षा-दीक्षा की दृष्टि से बच्चों की वैयक्तिक भिन्नता की ओर उचित ध्यान देना अति आवश्यक है, क्योंकि जो शिक्षा बालक की रुचि अथवा क्षमता के अनुसार नहीं होती, उससे उसके कुण्ठित हो जाने की बहुत संभावना रहती है; परन्तु जहाँ तक माता पिता के स्नेह का संबंध है, उसमें बालकों की वैयक्तिक भिन्नता के कारण किसी प्रकार का भी भेद-भाव नहीं आना चाहिये। वैयक्तिक भिन्नता प्रकृति की देन है। अतः इसके कारण किसी बालक को उसके जन्मसिद्ध अधिकार से वंचित रखना उसके साथ घोर अन्याय करना है। ऐसी अवस्था में उपेक्षित बालक माता-पिता के प्रति कटु हो जाता है, तथा अन्य बालकों से ईर्ष्या करने लगता है।

बहुधा यह भी देखने में आता है कि माता पिता अपनी सन्तान की तुलना अन्य बच्चों से किया करते हैं और अनावश्यक ही उनकी छोटी-मोटी वास्तविक या काल्पनिक अच्छाई को अपने गर्व का कारण बना लेते हैं; जैसे, अन्य समवयस्क बच्चों से वह पहले चलने लगा है, दूसरे बच्चों की अपेक्षा उसे दो अक्षर अधिक आते हैं, इत्यादि। इन बातों का वर्णन प्रायः वहाँ किया जाता है जहाँ बड़ों में परस्पर होड़ रहती है, और वे भोले-भाले बच्चों को अपनी इस अव्यक्त ईर्षा का माध्यम बना लेते हैं। परन्तु ज्यों ज्यों बालक बढ़ते हैं, उनके सहज गुण भी स्वाभाविक रूप से विकसित होने लगते हैं। जो बच्चा दो चार दिन पहले चलने लगता है, वह अन्य समवयस्क बच्चों से सदैव सब कामों में अगुआ नहीं रहता और न आरंभ में दो चार अक्षर कम जाननेवाला बच्चा सदा पढ़ाई में पिछड़ा ही रहता है। कुछ समय के पश्चात् माता-पिता का अहंकार जब निराधार सिद्ध होता है तो वे स्वयं अपनी भूल को समझने के स्थान पर बालक को निकम्मा आदि कहने लगते हैं। बारम्बार दूसरे बच्चों से उसकी तुलना कर वे उसे अनजाने में ही ईर्षा-द्वेष की अग्नि में झोंक देते हैं। इसी प्रकार कभी कभी अध्यापक भी बच्चों में सहानुभूति तथा उदारता जैसे गुणों को विकसित करने के स्थान पर उनकी परस्पर तुलना कर उनमें ईर्षा-द्वेष जैसे दोषों को पैदा कर देते हैं।

इसके अतिरिक्त जिन स्कूलों में लड़कियों और लड़कों की मिली-जुली पढ़ाई यथार्थ में मिलीजुली नहीं होती, वहाँ बच्चों में परस्पर मित्रता एवं स्नेह के स्थान पर बहुधा कटुता और ईर्षा उत्पन्न हो जाती है; जैसे, लड़कियों के स्कूल में प्रायः ९–१० वर्ष की आयु तक के कुछ इने गिने लड़के भी ले लिये जाते हैं। कम-संख्या में होने के कारण वह अपने को स्कूल में खोया खोया-सा अनुभव करते हैं जबकि बहुसंख्या के आधार पर लड़कियाँ अपना आधिपत्य जमा लेती हैं। इससे लड़कों में बहुधा लड़कियों के प्रति ईर्षा आ जाती है और वे उनके खेल और काम बिगाड़ने में अग्रसर रहने लगते हैं। इसी प्रकार जब लड़कियों को लड़कों के स्कूल में भर्ती किया जाता है तो उनमें भी ईर्षा-द्वेष जैसे दोषों के उत्पन्न हो जाने की संभावना रहती है। यद्यपि मानसिक स्वास्थ्य के लिये मिलीजुली शिक्षा उत्तम होती है, किन्तु वह यथार्थ में मिलीजुली होनी चाहिये, नाममात्र को नहीं। नाममात्र की मिलीजुली शिक्षा मानसिक-स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से अहितकर ही है, हितकर नहीं।

चूँकि ईर्षा-द्वेष का मुख्य कारण स्नेह तथा सम्मान का अभाव है, इसलिये बालक में आत्मविश्वास पैदा करना ही इस दोष को दूर करने का एकमात्र साधन है। इसलिये

ईर्षालु बालक के ध्यान को उन क्रियाओं की ओर आकर्षित करना चाहिये जो उसकी क्षमता तथा रुचि के अनुसार हों। सफलता से प्रोत्साहित होकर वह दूसरों से डाह करने के स्थान पर स्वयं किसी न किसी काम में लीन रहने लगता है। हस्तकला में सामान्य बुद्धि बालक भी साधारणतः सफल रहते हैं। हस्तकौशल उनके आत्मगौरव का विषय बन जाता है। इस प्रकार आत्मगौरव तथा आत्मविश्वास के जाग्रत होते ही, ईर्षा-द्वेष जैसे मानसिक विकारों का अन्त हो जाता है और बालक फिर से सामूहिक जीवन के सुख और आनन्द को प्राप्त करने लगता है।

अध्याय ११

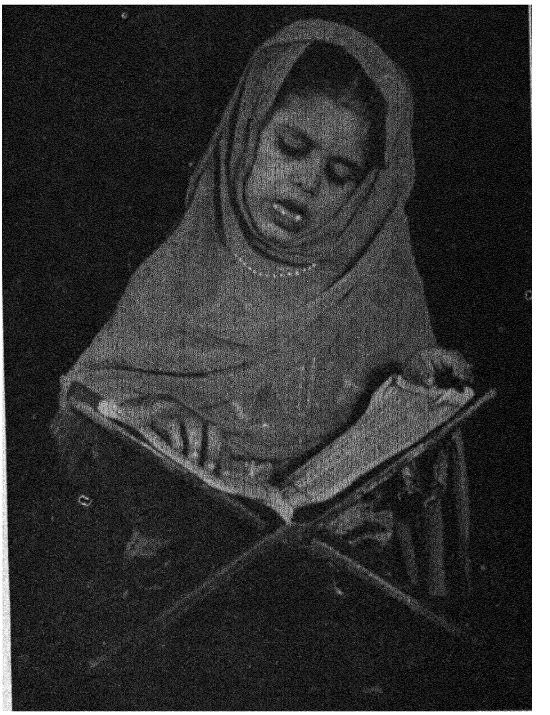
पढ़ाई में पिछड़ना

स्कूल का सामान्य कार्यक्रम साधारण बालकों की क्षमता तथा योग्यतानुसार नियत किया जाता है। वास्तविक आयु के साथ साथ बच्चों की मानसिक तीव्रता भी बढ़ती है। वे ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं उनकी क्रिया-कुशलता तथा बुद्धि में भी वृद्धि होती रहती है। उसी के अनुसार स्कूल के नियत कार्यक्रम की जटिलता में भी वृद्धि की जाती है, अर्थात् स्कूल का साधारण कार्यक्रम क्रमशः कठिन होता जाता है। जो काम दूसरी और तीसरी कक्षा के बालकों के लिये अत्यन्त कठिन अथवा असाध्य होता है, वही काम चौथी कक्षा के बालकों को साधारण प्रतीत होने लगता है, और पाँचवीं कक्षा के बालकों के लिये इतना सरल हो जाता है कि वे उसकी ओर ध्यान ही नहीं देते।

जिस प्रकार बालक की बुद्धि में वृद्धि होती है उसी प्रकार उसकी रुचियों का क्षेत्र भी अधिक विस्तृत होता जाता है। छोटे बालक केवल अपने निकट-परिवेश में ही विशेष रुचि रखते हैं, उन्हें प्रत्यक्ष स्थिति ही वास्तविक तथा महत्वपूर्ण दिखाई पड़ती है, उनकी जिज्ञासा तीव्र होने पर भी बहुत गंभीर नहीं होती। वैयक्तिक क्रिया की अपेक्षा सामूहिक काम उनके लिये अधिक रुचिकर होते हैं। इसीलिये उनके अध्यापकों के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे उनके नियत कार्यक्रम की व्यवस्था इस प्रकार से करें कि उसका संबंध बालक के दैनिक जीवन से स्पष्ट हो जाय।

बड़े होने पर बालक अपने निकट-परिवेश के अतिरिक्त देश तथा विदेश के संबंध में भी जानना चाहते हैं। उनकी जिज्ञासा उन्हें प्रत्येक स्थिति की विवेचना करने को प्रेरित करती है। इसीलिये वे अधिकतर क्रियाशील रहते हैं, तरह तरह की उथल पुथल और अन्वेषण द्वारा वे सिखलाये गये पाठ की जाँच पड़ताल करते हैं।

प्रत्यक्ष रूप से अर्थहीन पाठ कण्ठ करने में केवल समय और परिश्रम ही अधिक नहीं लगता, वह विस्मृत भी शीघ्र ही हो जाता है। उसे याद रखने के लिये बालक को उसे बारम्बार दोहराना पड़ता है। संस्कृत की गरदानें, व्याकरण के नियम, बीज-गणित के सूत्र इस प्रकार के पाठ के कुछ ऐसे उदाहरण हैं, जिनके ध्यान मात्र से बच्चों के प्राण सूखते हैं। इन्हें स्मरण करवाने के लिये आग्रह तथा भय



असाध्य पाठ
कठिन उच्चारण : जटिल समस्या

दोनों का ही प्रयोग किया जाता है। सज़ा के डर से बालक उन्हें बार बार कण्ठ करने का प्रयत्न करते हैं। भय के उत्तेजित हो जाने पर उनकी समझ बिलकुल काम नहीं करती, फलतः कठिन कार्य उनके लिये बिलकुल असाध्य हो जाता है। ऐसे पाठ बालक को केवल थका ही नहीं देते, वह पढ़ाई-लिखाई की ओर से उनका मन भी उचाट कर देते हैं। इसी काम की व्यवस्था यदि इस प्रकार से की जाय कि इन्हें यों नीरस रूप से कण्ठ करने के स्थान पर बालक स्वयं अनेक उदाहरणों के आधार पर इन नियमों का निर्माण करें, तो इनकी व्याख्या तथा उपयोगिता उनके मन पर स्वतः स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से अर्थहीन पाठ उनके लिये सार्थक तथा महत्वपूर्ण बन जाता है। अर्थ स्पष्ट होने पर, ऐसे पाठ को कण्ठ करने में उन्हें विशेष समय या परिश्रम व्यय नहीं करना पड़ता। सार्थक पाठ स्मरण भी शीघ्र हो जाता है और उसकी स्मृति भी दीर्घकालीन होती है। नयी परिस्थितियों में प्रयोग करने पर बालक के विभिन्न विषयों के ज्ञान में परस्पर-संबंध इतना घनिष्ट हो जाता है कि उनमें से किसी एक के पाठ करने से उससे संबंधित अन्य सब विषयों की स्मृति स्वतः दृढ़ हो जाती है। इस प्रकार के पाठ से बालक का आत्मविश्वास बढ़ता है, उसकी आत्मगौरव तथा आत्मप्रदर्शन की भावना को अभिव्यक्ति मिलती है, शिक्षा तथा शिक्षा-केन्द्र के प्रति उसमें आदर और श्रद्धा की भावनाएँ जाग्रत होती हैं।

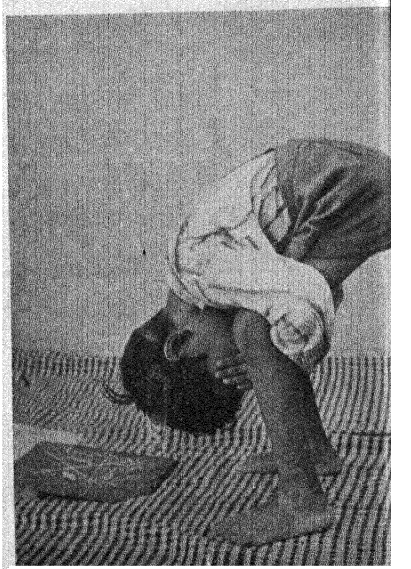
स्कूल का साधारण कार्यक्रम चूँकि सामान्य बालक की योग्यता तथा क्रिया-कुशलता को दृष्टि में रखकर नियत किया जाता है, इसलिये वह विशेष मन्द-बुद्धि के बालकों के अनुकूल नहीं होता। इसी कारण साधारणतया मूर्ख अथवा मूढ़ बालक सामान्य स्कूलों में भेजे ही नहीं जाते। उनकी शिक्षा-दीक्षा के लिये विशिष्ट केन्द्रों की व्यवस्था की जाती है जहाँ पर पढ़ाई लिखाई के स्थान पर हस्तकला को प्रधान माना जाता है। विशिष्ट स्कूलों के प्रभाव में यदि ऐसे बच्चे साधारण स्कूल

में चले भी जाते हैं तो पहली कक्षा में ही अपना बहुत सा समय व्यय कर वे स्वयं स्कूल छोड़ देते हैं। उनकी बुद्धि इतनी मन्द होती है कि पढ़ाई में उनका पिछड़ा रहना ही स्वाभाविक है।

समस्या तो वास्तव में स्थूल बुद्धि के बालक होते हैं, जो अपने समवयस्क बालकों से मानसिक तीव्रता में थोड़ा पिछड़े रहते हैं। आरंभ में यह भेद इतना स्पष्ट नहीं होता, किन्तु ज्यों ज्यों उनकी आयु बढ़ती है, यह भेद भी बढ़ता जाता है। पाँच वर्ष की आयु में जो बालक अपने समवयस्क बालकों से मानसिक तीव्रता में एक वर्ष पीछे होते हैं, वे दस वर्ष की आयु में दो वर्ष पिछड़ जाते हैं, अर्थात् दस वर्ष की आयु में उनकी मानसिक तीव्रता केवल आठ वर्ष के बालक के समान होती है। इन बालकों के लिये स्कूल का कार्यक्रम नित्यप्रति कठिन तथा असाध्य होता चला जाता है। प्रतिदिन के कठिन परिश्रम से वे अपने समवयस्क बालकों के साथ रहने की यथासंभव चेष्टा करते हैं, किन्तु फिर भी उनका थोड़ा बहुत पिछड़े रहना स्वाभाविक ही है। एक आध बार की असफलता उन्हें समवयस्क बालकों से अलग कर समान बुद्धि के बालकों के साथ मिला देती है, अर्थात् परीक्षा में असफल हो जाने पर उनका किसी किसी कक्षा में एक से अधिक वर्ष लग जाता है, जिससे वह अपने से छोटी आयु के बालकों के सहपाठी बन जाते हैं। असफलता से बालक उतना भय नहीं खाते जितना कि वे उपहास से डरते हैं। एक बार असफल होने पर परीक्षा में उतीर्ण होने के प्रयत्न वे फिर से कर सकते हैं, समान बुद्धि के सहपाठियों के साथ बराबर की होड़ ले सकते हैं, किन्तु दूसरों का उपहास उनके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाता है, उनमें आत्महीनता के भाव पैदा करता है। शारीरिक रूप से अधिक समर्थ होने के कारण कुछ बालक अपने इस अपमान का बदला मार-पीट से लेते हैं, और कुछ



सोचा, बहुत सोचा



उस पर भी...यह अन्याय

अपने में ही सिमट जाते हैं। कक्षा का गत वर्ष का पुराना कार्यक्रम तथा जानी पहचानी किताबें और कहानियाँ उनके ध्यान को आकर्षित नहीं कर पाती। फलतः वे पढ़ाई तथा स्कूल दोनों के प्रति ही उदासीन हो जाते हैं। अरुचि उनकी समस्या को और भी जटिल बना देती है। ऐसी परिस्थिति में मानसिक योग्यता के होते हुए भी वे अपने सहपाठियों के साथ मिल कर काम नहीं कर सकते, पढ़ाई में पिछड़ते ही चले जाते हैं। बच्चे को ऐसी मानसिक प्रतिक्रिया से बचाने का उत्तरदायित्व अध्यापक का है। यदि वे अपने व्यवहार और शिक्षाविधि से बालक को नित्य प्रोत्साहित करते रहें, तथा शिक्षा का दैनिक कार्यक्रम नवीन उदाहरणों से उनके लिये रुचिकर बनाये रखें, तो यह बालक भी समानबुद्धि के सहपाठियों के साथ उत्साहपूर्वक शिक्षा संबंधी कार्यों में दत्तचित हो सकते हैं।

कुछ माता पिता अपनी कोरी मोह-ममता के कारण ही अपने सामान्य बालक को पढ़ाई में पिछड़ा हुआ समझने लगते हैं। मोहवश वह अपने सामान्य बालक को यदि सर्वोत्तम नहीं तो उत्तम अवश्य ही मान बैठते हैं। उन्हें अपने बालक के सामान्य गुण बहुत बड़े रूप में दिखाई पड़ते है, जबकि उसकी त्रुटियाँ अथवा अवगुण उनकी दृष्टि में आती ही नहीं। इसीलिये अपने बच्चे से बहुत ऊँची ऊँची आशाएँ बाँध लेना साधारण माता पिता के लिये बहुत कुछ स्वाभाविक है। परन्तु जब स्कूल से उनकी आशाओं के विपरीत सूचना मिलती है तो वे अपनी काल्पनिक आशाओं के टूट जाने से अत्यन्त खिन्न हो कर बच्चे को भी दुखी करते हैं, और स्वयं भी दुखी होते हैं। बच्चे की योग्यता को साधारण समझने के स्थान पर वे अध्यापक तथा शिक्षा-प्रणाली पर तरह तरह के दोषारोपण करने लगते हैं, जिससे बालक में अनुशासन के प्रति विद्रोह की भावनाएँ अव्यक्त रूप से पैदा हो जाती हैं। अध्यापक के प्रति अश्रद्धा एवं शिक्षा-प्रणाली के प्रति कटु-भावना उनके अध्ययन में बाधक बन जाती हैं। फलतः सामान्य योग्यता रखने पर भी वे अपनी भावना-ग्रंथियों के कारण पढ़ाई में पिछड़ने लगते हैं।

कुछ बालकों के पढ़ाई में पिछड़ने का कारण उनका स्वास्थ्य अथवा कोई ऐसा अन्य शारीरिक दोष होता है जिसका उन्हें ज्ञान नहीं होता; जैसे, आँख की कमज़ोरी, अथवा ऊँचा सुनाई देना। सामान्य योग्यता का बालक ध्यान तथा रुचिपूर्वक पढ़ाई-लिखाई करने पर भी यदि समवयस्क बालकों से पिछड़ा रहता है, अथवा रुचि रहने पर भी उसका मन शीघ्र ही उचाट हो जाता है, तो उसकी शारीरिक जाँच शीघ्र ही करवा लेनी चाहिये, क्योंकि यह बहुत संभव है कि पाचन क्रिया या किसी अन्य ग्रंथि अथवा अवयव में दोष के कारण उसमें किसी क्रिया में दत्तचित रहने के लिये पर्याप्त आन्तरिक बल ही न हो।

आँखों की कमज़ोरी से बच्चे जल्दी ही थक जाते हैं। इसी प्रकार ऊँचा सुननेवाले बालकों को पाठ सुनने व समझने में कठिनाई होती है। ऊँचा सुननेवाले बालक सामूहिक जीवन में ठीक प्रकार से भाग न ले सकने के कारण, सहपाठियों से अलग-से रहने लगते हैं। इस प्रकार के छोटे छोटे दोष सुगमता से दूर किये जा सकते हैं। स्कूलों की जाँच से पता चलता है, कि ऐसे दोषों के दूर हो जाने पर बालक की मानसिक तीव्रता में सहसा उन्नति आ जाती है।

हकलाना व्यक्ति को उपहासास्पद बना देता है। अन्य बालक उसकी नक़ल कर उसे चिढ़ाते हैं। यह दोष बहुधा बालक में आत्मविश्वास के अभाव का लक्षण होता है। मानसिक द्वन्द्व, आत्महीनता की भावना, घरेलू जीवन की विषमताएँ इस दोष के मुख्य कारण हैं। इसलिये अध्यायक को हकले बालक के साथ विशेष स्नेह तथा उदारता से काम लेना चाहिये, जिससे वह किसी विशेष क्रिया में निपुण होकर अपने सहपाठियों तथा संगी-साथियों के सम्मान को प्राप्त कर सके।

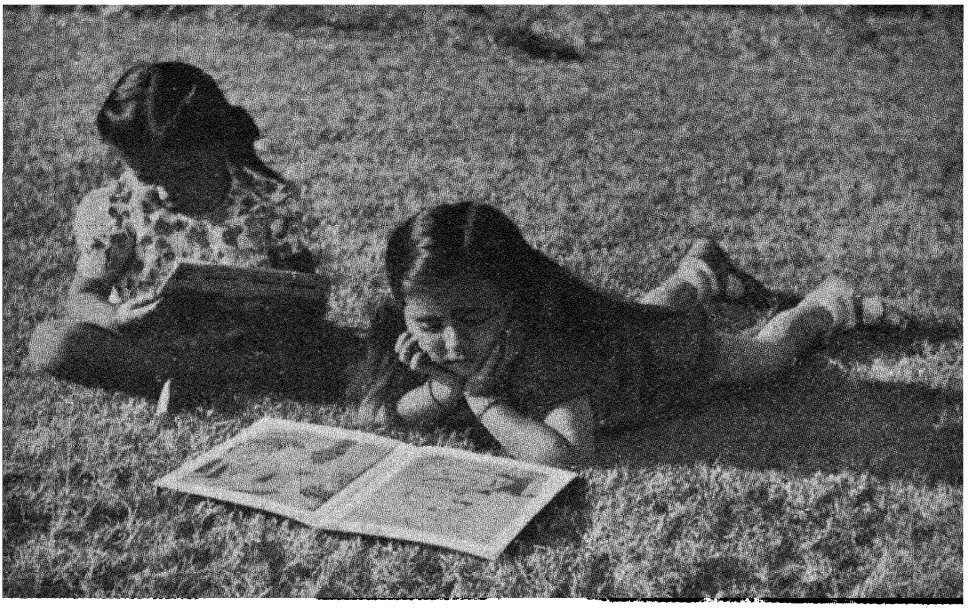
बच्चे के शारीरिक विकास के नियमों तथा स्वास्थ्य संबंधी सहज आवश्यकताओं से अनभिज्ञ होने के कारण अधिकांश माता-पिता अपने बालकों के स्वास्थ्य की ओर उचित ध्यान नहीं देते। अधिकांश स्कूल भी अपने इस उत्तरदायित्व की ओर उदासीन ही पाये जाते हैं। ऐसे स्कूल बहुत कम हैं जहाँ नियमित रूप से बच्चों के स्वास्थ्य की जाँच की जाती है। इन स्कूलों में यह जाँच भी अधिकतर एक प्रकार की परिपाटी-पालन ही है, बच्चों की चिकित्सा आदि का कुछ विशेष प्रबन्ध नहीं किया जाता। बहुत कम स्कूल ऐसे हैं जहाँ दोपहर के समय खाने का प्रबन्ध किया जाता है, उस पर भी अधिकांश माता-पिता बच्चों को खाना देने के स्थान पर पैसे दे देते हैं, जो प्रायः चाट आदि हानिकर पदार्थों पर व्यय किये जाते हैं। इन पदार्थों से बच्चों की लालसा तो अवश्य मिट जाती है, किन्तु भूख ज्यों की त्यों बनी रहती है और गला पेट आदि खराब होता है। बच्चे स्कूल में प्रायः छः–सात घण्टे निराहार काट देते हैं, जिससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ता है, वह चिड़चिड़े हो जाते हैं, और पढ़ाई से उनका मन उचाट होने लगता है। अस्वस्थ होने के कारण वे पढ़ाई में पिछड़ने लगते हैं। शारीरिक अवस्था के ठीक रहने पर यही बालक पढ़ाई में पूरा मन लगा सकते हैं।

कभी कभी स्वस्थ और तीव्रबुद्धि का बालक भी पढ़ाई में पिछड़ जाता है। अर्थात्, वह बालक जो स्कूल और समाज की निधि होना चाहिये, अपनी अरुचि के कारण दोनों के

लिये जटिल समस्या बन जाता है। इसका मुख्य कारण नियत कार्यक्रम की वह व्यवस्था है जिसमें तीव्रबुद्धि का बालक न तो अपनी रुचियों को व्यक्त कर पाता है, और न उन्हें कुछ महत्व ही दिया जाता है। उसकी सहज जिज्ञासा को तृप्त करने के स्थान पर उसे अनुशासन के नाम पर कुचल दिया जाता है। ऐसे स्कूल बहुत ही कम हैं जहाँ नियत कार्यक्रम की व्यवस्था बालकों के मानसिक विकास तथा रुचियों के अनुसार की जाती है। साधारणतः स्कूल के नियत कार्यक्रम में रूढ़ि इतनी प्रधान रहती है कि बालक की जिज्ञासा को तृप्त करने के लिये उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन ही नहीं किया जाता। बालक को अपने से सोचने समझने का अवकाश नहीं मिलता। स्कूल के कार्यक्रम को बालक के अनुकूल बनाने के स्थान पर बालक को स्कूल के नियत कार्यक्रम के अनुकूल बनाने की चेष्टा की जाती है, मानो कि वह भी कक्षा के अन्य सामान का एक अंश ही हो।

इस प्रकार के रूढ़ि-प्रधान वातावरण में तीव्रबुद्धि के बालक विद्याध्ययन के प्रति उदासीन रहने लगते हैं। स्कूल का साधारण कार्यक्रम अत्यन्त सरल और नीरस होने के कारण उनके ध्यान को आकर्षित नहीं कर पाता। फलस्वरूप वे अपना अधिकांश समय या तो शरारत में व्यय करते हैं, अथवा दिवास्वप्न में खोये रहते हैं। इस प्रकार धीरे धीरे वे पढ़ाई में पिछड़ने लगते हैं।

इस समस्या को हल करने के लिये कुछ स्कूलों में बच्चों को एक वर्ष में दो कक्षाओं की परीक्षा देने की अनुमति दी जाती है। इस योजना से बालक समवयस्क सहपाठियों से उस ऊँची कक्षा में चले जाते हैं जहाँ का कार्यक्रम मानसिक योग्यता के अनुसार होता है। परन्तु ऐसा अवकाश यदि बार बार दिया जाता है तो इससे उनमें तथा उनके सहपाठियों की वास्तविक आयु में बहुत अन्तर आ जाता है। मानसिक तीव्रता समान होने पर भी उनकी बातचीत, विचारधारा तथा भावुकता में इतनी भिन्नता रहती है कि सहपाठी रहने पर भी वे उनके साथी नहीं बन पाते। सामूहिक जीवन उनके एकाकीपन को और भी दूभर कर देता है। स्कूल का जीवन उनके लिये नीरस बन जाता है। इसलिये उत्तम यही है कि स्कूल का कार्यक्रम रूढ़िगत न होकर बच्चों की रुचि के अनुसार व्यवस्थित किया जाय। रुचिकर कार्य बालक के लिये खेल बन जाते हैं। मन पसन्द पुस्तक पढ़ने के लिये किसी विशेष स्थान अथवा प्रबन्ध की आवश्यकता नहीं होती। उसे बालक अपने साथ-साथ सब जगह लिये फिरता है और तनिक-सा अवकाश पाते ही उसमें तल्लीन



रुचिकर पाठ : मनोरंजन

हो जाता है। रुचि तथा क्षमता के अनुसार काम मिलते ही बालक अपनी योग्यता का सुन्दर परिचय देते हैं।

विद्याध्ययन में बालकों को जो सफलता मिलती है वह बहुत कुछ उनके घरेलू वातावरण पर भी निर्भर करती है। जिस प्रकार सहानुभूति तथा विश्वास पाकर उनमें स्फूर्ति पैदा होती है, उसी प्रकार खिन्न मन उन्हें उत्साहविहीन कर देता है। कुछ घरों में सद्व्यवहार तथा संयम सिखाने के भाव से बालकों को बहुत दबा कर रखा जाता है। उनकी प्रत्येक माँग तथा इच्छा का निर्णय माता-पिता अपनी स्वच्छन्दतानुसार करते हैं, जिसका पालन बालकों के लिये अनिवार्य होता है। माता-पिता की ममता तथा बाल्यकाल की पराधीनता के कारण बालक इस कड़े अनुशासन का पालन करते हैं, किन्तु अव्यक्त रूप से उनमें विद्रोह की भावनाएँ जाग्रत हो जाती हैं, जो बहुधा स्कूल और अन्य संस्थाओं के नियमों का उल्लंघन के रूप में व्यक्त होती रहती हैं। कभी कभी विद्याध्ययन के प्रति अरुचि भी इसी का एक वाह्य-लक्षण होता है। इस दोष को दूर करने के लिये माता-पिता का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है।

इसका यह अर्थ नहीं कि बालक के जीवन में अनुशासन होना ही नहीं चाहिये। संयम तथा सद्व्यवहार जीवन की वह आवश्यकताएँ हैं जिनके अभाव में मनुष्य स्वयं सामूहिक जीवन के सुख से वंचित रह जाता है। प्रत्येक माता-पिता का यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वे अपनी सन्तान में इन गुणों की आदत डालें। सद्व्यवहार, सदाचार तथा

संयम के लिये इच्छाओं को सीमित रखना अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि वाह्य बाधाएँ बालक के जीवन का एक अनिवार्य अंग बना दी जाँय। अपनी सहज इच्छाओं को पूरा करने के लिये बालक को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये और उनकी अनुचित व असुविधाजनक माँग की विवेचना इस प्रकार करनी चाहिये कि बालक को स्वयं ही अपनी भूल का आभास हो जाय। भूल का आभास होते ही वह उसे तथा उस जैसी अन्य माँगों को स्वयं ही त्याग देता है। धीरे धीरे उसके जीवन में अनुशासन प्रधान हो जाता है।

सम्पन्न घरों के लाड़ले बच्चे पढ़ाई में अधिकतर पिछड़े रहते हैं। अत्यन्त लाड़-दुलार में माता-पिता उनका सब काम कर देते हैं। अपने उद्योग से किसी कठिन कार्य को यत्नपूर्वक करना उन्हें सिखलाया ही नहीं जाता। अपनी सफलता के लिये वह दूसरों पर निर्भर रहना सीख जाते हैं। चूँकि उन्हें किसी कठिन काम को स्वयं करने की आदत नहीं होती, इसलिये अन्य बालकों के साथ स्कूल के कार्यक्रम में समान भाग लेने के स्थान पर, वे अपनी आर्थिक श्रेष्ठता को अपने गौरव का विषय बनाते हैं। फलस्वरूप योग्य होने पर भी वे अपनी अरुचि अथवा आलस्य के कारण पढ़ाई में पिछड़े रहते हैं।

इन बच्चों को अच्छा विद्यार्थी बनाने के लिये विशेष प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है। बच्चों की छोटी छोटी टोलियाँ बनाकर, उनमें स्वस्थ होड़ लगाकर इन बच्चों में अध्ययन के प्रति रुचि पैदा की जा सकती है। पुरस्कार इत्यादि की प्रथा भी उपयोगी सिद्ध होती है, परन्तु जहाँ तक हो सके पुरस्कार में आर्थिक उपयोगिता के स्थान पर आदर तथा सम्मान की प्रधानता होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त अहम् की भावना को रोकने के लिये वैयक्तिक पुरस्कार के स्थान पर सामूहिक पुरस्कार की प्रथा अधिक उपयोगी है।

इन सबसे यह स्पष्ट है कि विद्याध्ययन के लिये केवल मानसिक तीव्रता ही पर्याप्त नहीं होती, बच्चे की मनोवृत्ति, रुचि, नीरोग, सहानुभूति इत्यादि और भी बहुत सी बातें अपना प्रभाव रखती हैं। जिस शिक्षा प्रणाली में बच्चे के अस्तित्व की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, वह साधारणतः बालक के अक्षर-बोध का साधन ही रह जाती है, वह उसके मानसिक विकास की उत्तेजना नहीं बन पाती।

अध्याय १२

घर अथवा स्कूल से भागना

बच्चा अपने सहज स्वभाव से स्नेह का सच्चा पुजारी है। वह स्नेह करता ही नहीं, स्नेह चाहता भी है। माता-पिता का दुलार उसकी सर्वनिधि होती है। दरिद्रता से पीड़ित बालक भी माँ की स्नेहमयी गोद में बैठा सन्तुष्ट दिखाई पड़ता है। माँ की गोद उसके सुख-सन्तोष की वह खान है जिसकी तुलना अन्य सांसारिक सुख नहीं कर पाते।

इसी भाँति माता-पिता भी बच्चे को पा कर अपने जीवन को धन्य मानते हैं। उसके जन्म की खुशियों में गीत गाते हैं तथा मिठाइयाँ बाँटते हैं। बालक के जन्म लेते ही माता-पिता को अपना भविष्य सुखकर तथा प्रकाशमय दिखाई देने लगता है; उन्हें लगता है कि सन्तान होने से उन्होंने मृत्यु पर विजय पा ली है, क्योंकि जब तक संसार में उनका अंश जीवित है, वह स्वयं भी उसमें जीवित रहते हैं। इसी लिये सन्तानहीन माता-पिता को अपना जीवन अस्थायी, अधूरा तथा व्यर्थ दिखाई पड़ता है।

चूंकि बच्चे का जीवन माता-पिता का जीवन है, बच्चे का भविष्य उनका अपना भविष्य है, इसलिये बालक के जीवन को सुखी और सफल बनाना माता-पिता के जीवन का ध्येय बन जाता है। बच्चे से अलग उनके अपने जीवन का कुछ महत्व या अस्तित्व ही नहीं रह जाता। प्रत्येक माता-पिता अपनी-अपनी मानसिक, आर्थिक और सामाजिक क्षमता के अनुसार बच्चे के जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न करते हैं। वे उनके लिये खिलौने लाते हैं, उनकी रुचि के अनुसार खाना पकाते हैं, उनकी शिक्षा के लिये तरह-तरह के प्रबन्ध करते हैं। यदि कहीं अभाग्यवश बच्चा बीमार हो जाता है, तो वे उसकी चिकित्सा आदि में अपना सर्वस्व तक लगा देते हैं।

माता-पिता तथा बच्चे एक दूसरे पर इतने निर्भर हो जाते हैं कि एक के बिना दूसरे का जीवन दूभर हो जाता है। ऐसी अवस्था में बच्चों का घर से भागना बहुत ही अस्वाभाविक घटना है, विशेषकर जब यह देखा जाता है कि भागनेवाले बच्चों में अधिकांश बालक माता-पिता के विशेष दुलार के पात्र होते हैं; जैसे, सबसे छोटा बच्चा, बहुत बहनों का अकेला भाई या इकलौता बालक। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि भागे हुए

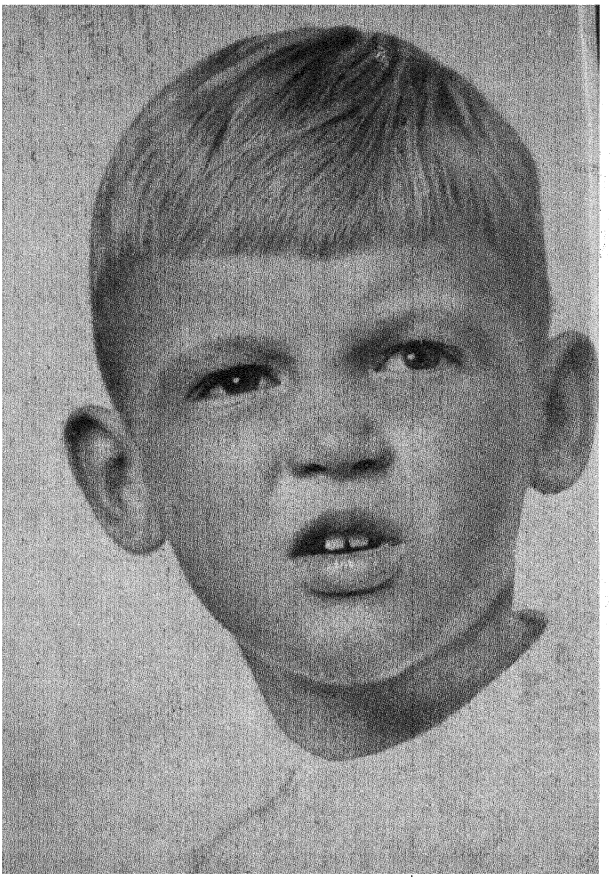
बालकों में अधिकांश बालक १३ से १७ वर्ष के होते हैं, अर्थात् किशोर ही अधिकतर इसके अपराधी पाये जाते हैं। इसके यह अर्थ नहीं कि किशोरावस्था इस दोष का कारण है, या सब किशोर थोड़े बहुत समय के लिये घर से भाग जाते हैं, परन्तु यह कि ऐसे अपराधी बालकों में अधिकतर संख्या किशोर बालकों की होती है।

किशोरावस्था बाल्यकाल तथा युवावस्था के बीच की अवस्था है। इस में बालक का शारीरिक विकास इस तीव्र गति से होता है कि कुछ ही समय में वह शारीरिक रूप से प्रौढ़ व्यक्ति दिखाई देने लगता है। शारीरिक विकास की तीव्रता ही इस अवस्था की विशेषता है। किशोरावस्था में बालक का केवल बाह्य आकार ही नहीं बदलता, ग्रंथियों के रासायनिक पदार्थों से उसके अंतरंग में भी बहुत परिवर्तन आ जाते हैं, जिनके कारण वे अपने में पुरुषत्व व नारीत्व का आभास करने लगते हैं। लड़कों की गहरी आवाज़ और बालिकाओं के अंगों की गोलाई उनके प्रौढ़ावस्था के बाह्य लक्षण हैं।

जीवन शक्ति के सहसा आवेग से बालक की क्रिया में नया उत्साह तथा स्फूर्ति आ जाती है, जबकि अनुभूतियों के अभाव के कारण उनके व्यवहार में अल्हड़पन प्रधान रहता है। अपने सीमित तथा परिमित ज्ञान के आवेश में बालक को अपनी नादानी का आभास नहीं होता, उसे यह ज्ञान नहीं होता कि अपने को यों बुद्धिमान समझना ही मूर्खता है।

चूंकि बालक यथार्थ में बड़ा नहीं होता, बल्कि बड़ा कहलाने का इच्छुक होता है, इसलिये उसके बड़प्पन की तनिक-सी अवहेलना उसके लिये असहनीय हो जाती है। जो क्षमता या गुण व्यक्ति के व्यवहार का सहज अंग हो जाता है, उसपर निराधार चोट, चोट नहीं केवल मज़ाक ही लगता है, किन्तु जहाँ कमज़ोरी रहती है वहाँ ज़रा सी चोट गहरा घाव करती है। कमज़ोरी पर मज़ाक, मज़ाक नहीं, आघात हो जाता है। इसलिये बालक को अपने बड़प्पन की तनिक भी अवहेलना अपना अपमान तथा समाज का घोर अन्याय लगता है।

जिस पारिवारिक जीवन में बालक के अस्तित्व को उपयुक्त महत्व दिया जाता है, उसे बराबर का नाता मिलता है, वहाँ वह अपने शारीरिक विकास के प्रति सचेत भी नहीं रहता। वह उसे सहज और स्वाभाविक दिखाई पड़ता है। परन्तु जहाँ माता-पिता बालक को बड़ा मानते ही नहीं, उससे मनमानी करते चलते हैं, उसकी हर बात पर अपना प्रभुत्व



फिर वही बात : वही मनमानी

मिसेज़ ग्रिफमन के सौजन्य

जमाये रखते हैं, उसके हित अहित का स्वयं निर्णय करते हैं, वहाँ वह चिड़चिड़ा हो जाता है। वह अपने ही घर में बेगाना अनुभव करने लगता है, जहाँ किसी को न उसका आदर है न पहचान। बड़ों का समाज उसे मनमानी करनेवाला तथा अन्यायपूर्ण दिखाई देने लगता है। उसके और उसके माता-पिता में एक ऐसा खिचाव पैदा हो जाता है, जो उसे माता-पिता के प्रति अत्यन्त रूखा और कटु बना देता है। ऐसी कटुता को मन में लिये बालक कब तक घर में रह सकता है ? उसकी ममता तथा आर्थिक पराधीनता उसे घर में रहने को बाध्य अवश्य करती है, किन्तु उसके सपने घर की दुनिया से बाहर रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में बालक को यदि कुसंगत मिल जाय, या उसकी बहुत मनचाही माँग बिलकुल ही मनमाने ढंग से ठुकरा दी जाय, तो वह कभी कभी घर से भाग भी जाता है।

उन घरों के बच्चे विशेषकर भागते हैं, जहाँ माता-पिता में प्रायः झगड़ा रहता है। उनमें से जब एक मनमानी करता है तो दूसरा रूठकर घर से बाहर कहीं छिप जाता है, जिससे घर का सारा सिलसिला ही बिगड़ जाता है। पहले तो घर में खाना ही नहीं पकता, और यदि पकता है तो कोई खाता नहीं। यदि माँ छिप जाती है तो बाबा बिस्तर से मुँह नहीं निकालते, और यदि बाबा कहीं चले जाते हैं तो माँ को रोते साँस नहीं आता। कुछ समय पश्चात् अन्य लोगों के बीच-बचाव करने पर जब माता-पिता में मान मनौअल होता है तो वे थोड़े दिनों के लिये एक दूसरे की सुनते और मानते हैं। इन परिवारों में घर से निकल जाने की धमकी दूसरों को अपने सामने झुकाने का साधन

बन जाती है। ऐसे वातावरण में बच्चे माता-पिता की सहज निर्बलता को अपना बल बनाते हैं, तथा अपनी उचित और अनुचित माँगों को पूरा करवाने के लिये घर से भाग जाते हैं।

किशोरावस्था मानसिक और शारीरिक विकास की अवस्था है। इस अवस्था में बालक के व्यवहार में सहज अस्थिरता आ जाती है। शारीरिक रूप से प्रौढ़ होने पर भी वह अल्हड़ और अबोध होता है। अनुभूतियों के अभाव के कारण उसे अपनी त्रुटियों का आभास नहीं होता, परन्तु शारीरिक विकास से उसमें बड़प्पन के भाव अवश्य आ जाते हैं। इसलिये इस अस्थिर अवस्था में उसकी देखभाल की विशेष आवश्यकता होती है। उसकी प्रत्येक माँग को पूरा नहीं किया जा सकता। परन्तु उसकी इच्छाओं को कुचलने के स्थान पर, यदि उन्हें सुलझाकर बालक के सामने रख दिया जाय, तो वह स्वयं ही अपनी अनुचित माँगों को त्याग देता है। इस प्रकार अपनी माँगों का स्वयं निर्णय करने से उसका आत्मविश्वास बढ़ता है, और माता-पिता तथा बालक में स्नेह और मित्रता बनी रहती है।

यह समस्या अध्यापकों के सम्मुख भी उपस्थित होती है। कुछ बालक स्कूल के लिये नियत समय पर घर से चलते हैं, किन्तु स्कूल पहुँचने तथा अन्य बालकों के साथ पढ़ने लिखने के बजाय वे स्कूल के बाहर इधर उधर चक्कर काटते हुए नियत समय पर घर लौट आते हैं। इस प्रकार स्कूल से भागने में कुछ बालक इतने कुशल हो जाते हैं कि माता पिता को उनके इस व्यवहार की सूचना महीनों नहीं मिलती।

स्कूलों से जानकारी प्राप्त करने पर पता चलता है कि स्कूल से भागनेवाले बच्चों में से ८३ प्रतिशत बालक मन्द-बुद्धि के होते हैं, १५ प्रतिशत सामान्य और

परीक्षा या हौआ ?



दो प्रतिशत तीव्र बुद्धि के। इससे यह विदित होता है कि स्कूल से प्रायः वह बालक भागते हैं जिनके लिये स्कूल का कार्यक्रम असाध्य अथवा विशेष अरुचिकर होता है। उस पर परीक्षा का भूत उनके प्राण सुखाये रहता है। चूंकि अधिकतर बालक सामान्य बुद्धि के होते हैं, तीव्र बुद्धि व मन्द बुद्धि के बालकों की संख्या बहुत कम पाई जाती है। इस-लिये स्कूल का कार्यक्रम साधारणतः सामान्य बच्चों की योग्यता तथा आवश्यकता के अनुसार नियत किया जाता है। परिणामतः वह बहुधा मन्द बुद्धि या तीव्र बुद्धि बालकों के अनुकूल नहीं होता। मन्द-बुद्धि बालक पढ़ाई में अपने साथियों से पिछड़ जाते हैं। बार बार की असफलता उनके मन को खिन्न कर देती है। अपने को असफलता की वेदना तथा साथियों के घृणाप्रद उपहास से बचाने के लिये वे स्कूल से बचने के बहाने ढूंढ़ने लगते हैं। स्कूल के समय कभी उनके सिर में पीड़ा होती है, तो कभी पेट में दर्द। परन्तु जब यह दर्द या पीड़ा उन्हें स्कूल से नहीं बचा पाती तो वे इधर उधर कुछ समय बिता कर घर लौट आते हैं।

मन्द बुद्धि बालक हर काम में पिछड़े नहीं रहते, हस्त कला में उन्हें विशेष रुचि होती है, जैसे बढ़ई का काम व तकली चलाना। यदि स्कूल के कार्यक्रम के साथ ऐसे कार्य भी लगे रहें तो मन्द-बुद्धि के बालक भी सफलता का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। इन्हीं कार्यों को उनकी शिक्षा का माध्यम बनाया जा सकता है।

तीव्र बुद्धि बालकों के लिये स्कूल का साधारण कार्यक्रम साधारणतः इतना सरल होता है कि वह उनके मन को आकर्षित नहीं कर पाता। अत्यन्त सरल होने के कारण वह उनके लिये अरुचिकर हो जाता है। फलतः तीव्र बुद्धि बालक उसके प्रति उदासीन होकर तरह-तरह की शरारत में अपना समय व्यतीत करने लगते हैं। बहुधा वे दिवास्वप्न में खोये रहते हैं, और कभी कभी स्कूल से भाग भी जाते हैं। बुद्धि की तीव्रता के कारण वे अपनी क्रिया के दूरस्थ परिणाम सोच लेते हैं, अतः परिस्थिति को संभाल लेते हैं। परन्तु स्कूल का भी यह प्राथमिक कर्तव्य है कि अपने कार्यक्रम में कुछ ऐसे कार्यक्रम भी रखें जिन्हें तीव्र व मन्द बुद्धि बालक अपनी अपनी योग्यता व रुचि के अनुसार कर सकें। इन कामों द्वारा स्कूल का जीवन सब बालकों के लिये रुचिकर तथा उपयोगी हो सकता है। जिन स्कूलों में ऐसी व्यवस्था की जाती है, वह स्कूल बच्चों के लिये एक लम्बी तपस्या नहीं, बल्कि योग्यता पाने तथा मन बहलाने के स्थान बन जाते हैं। इससे स्कूल से भागने की समस्या स्वतः हल हो जाती है।